णमोकार महामंत्र

पं. रतनचन्द भारिल्ल

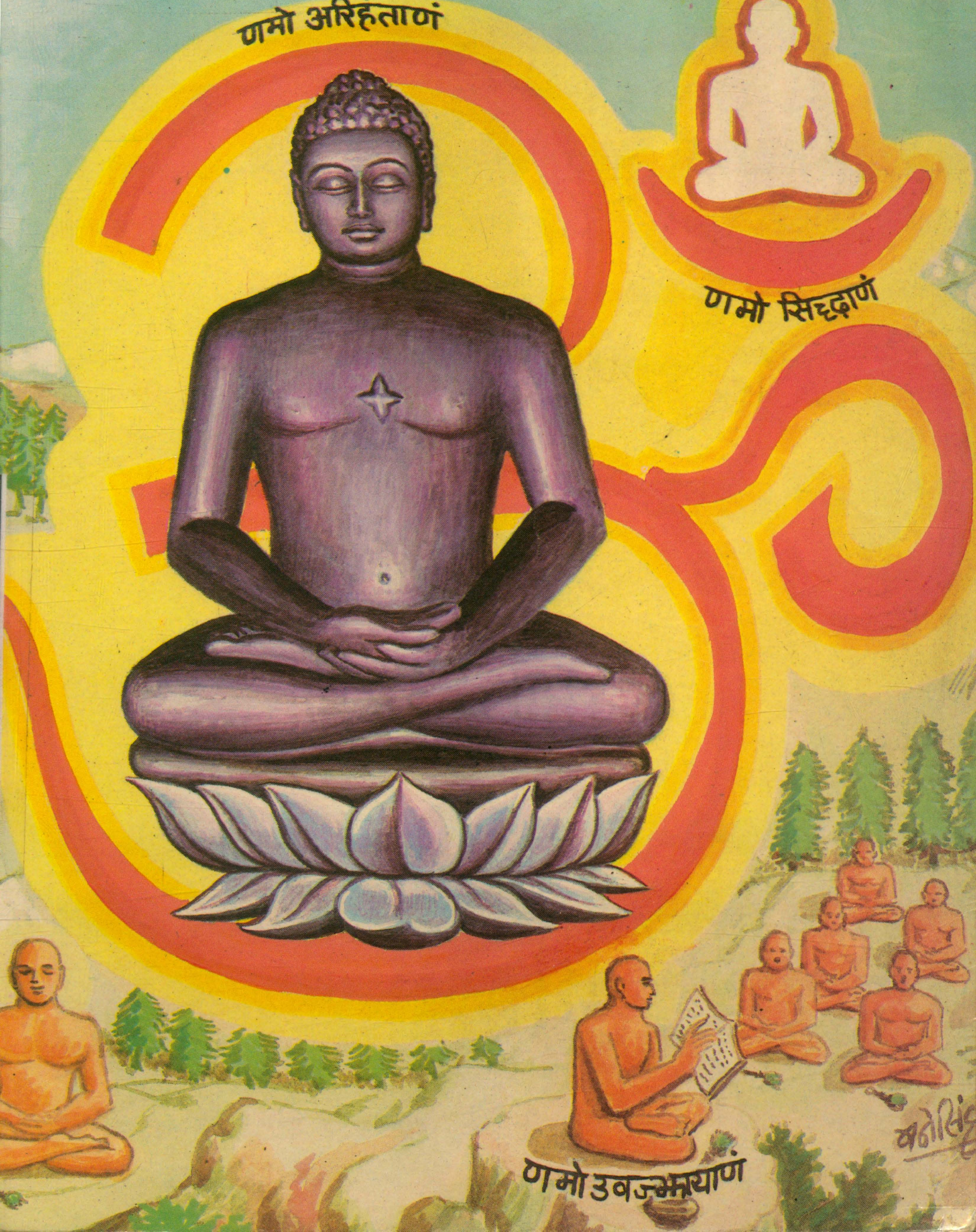

णमोकार महामंत्र

लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य – श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

* हिन्दी प्रथम चार संस्करण :
(सन् ८७ से ९२ तक)
२३ हजार ८००

* पंचम संस्करण :
(सन् १९९४, अक्षय तृतीया)
५ हजार २००

* गुजराती प्रथम संस्करण :
५ हजार २००

* मराठी प्रथम संस्करण :
४ हजार २००

* कन्नड़ प्रथम संस्करण :
२ हजार १००

कुल योग : ४० हजार ५००

मूल्य : ५ रु.

मुद्रक :
जयपुर प्रिंटर्स
एम. आई. रोड, जयपुर

अनुक्रमणिका

क्या/कहाँ	पृष्ठ
१. मंगलाचरण	९
२. पंचपरमेष्ठी का प्रतीक 'ॐ'	१०
३. णमोकार मंत्र : निष्काम महामंत्र	११-१२
४. अरहंत परमेष्ठी	१३-२४
५. सिद्ध परमेष्ठी	२५-२७
६. आचार्य परमेष्ठी	२८-३२
७. उपाध्याय परमेष्ठी	३३-३५
८. साधु परमेष्ठी	३६-४२
९. सामान्य साधु का स्वरूप	४३-४७
१०. निर्ग्रन्थ मुनि नग्न ही क्यों होते हैं ?	४८-५२
११. चत्तारि मंगलं : चार मंगल (मंगल-उत्तम-शरण)	५३-५८
१२. णमोकार मंत्र का माहात्म्य	५९-६४
१३. णमोकार मंत्र : अनादि या सादि	६५-६६
१४. णमोकार मंत्र का पदक्रम	६७-७०
१५. णमोकार मंत्र और शब्दशक्ति	७१-७३
१६. णमोकार मंत्र और मनोरथ पूर्ति	७४-७५
१७. णमोकार मंत्र के पाठभेद	७६
१८. द्रव्यश्रुत और णमोकार मंत्र	७७-७८
१९. उपसंहार	७९-८०
२०. णमोकार महामंत्र : किंवदन्तियाँ और कथायें	८१-८७
२१. अभिमत	८८-९६

प्रकाशकीय

णमोकार मंत्र जैनकुल में जन्मलेनेवाले आबाल-वृद्ध सभी नर-नारी पढ़ते हैं; पर ऐसे कितने हैं जो इस महामंत्र के असली महत्त्व से परिचित हैं। यह तो हमारा परम सौभाग्य है कि हमें जन्म से ही ऐसा मंगलमय महामंत्र सुनने का सुअवसर सहज उपलब्ध हो गया है। हम अपने कुलक्रम से यह णमोकार मंत्र बालपन से बराबर सुनते और बोलते आ रहे हैं। पर उसके वास्तविक स्वरूप से आज भी अनभिज्ञ हैं, अपरिचित हैं - इस कारण पुण्योदय से प्राप्त इस जन्मजात उपलब्धि का जितना लाभ हमें मिलना चाहिए, नहीं मिल पा रहा है।

एतदर्थ हमें ऐसे साहित्य की बहुत समय से प्रतीक्षा थी, जो हमें णमोकार मंत्र से सम्बंधित विस्तृत जानकारी दे सके ।

हमें प्रस्तुत 'णमोकार महामंत्र' पुस्तक को प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने प्रस्तुत कृति में णमोकार मंत्र पर सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करके एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। अद्यावधि णमोकार मंत्र पर ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी, जो जैनसमाज को इस दिशा में सही मार्गदर्शन दे सके ।

प्रस्तुत कृति में णमोकार मंत्र एवं उसमें प्रतिपाद्य पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का विशद विवेचन, महामंत्र का माहात्म्य, उसका अनादिनिधनत्व, पदक्रम, मंत्र और मनोरथपूर्ति, णमोकार मंत्र के पाठभेद, किंवदन्तियाँ और कथायें आदि पहलुओं पर तो आगम के आलोक में युक्तिसंगत विवेचना प्रस्तुत की ही है, साथ में णमोकार मंत्र से सम्बंधित अनेक भ्रान्तिमूलक प्रचलित परम्पराओं के भी सुन्दर समाधान यथास्थान आ गये हैं। इससे णमोकार मंत्र के विषय में फैली भ्रान्तियाँ तो दूर होंगी ही, वास्तविक विषयवस्तु समझ में

आने से अंध श्रद्धा का अभाव होकर यथार्थ श्रद्धा-भक्ति का उद्भव एवं विकास भी होगा ।

इस पुस्तक का प्रणयन मूलतः 'जैनपथ प्रदर्शक' के सम्पादकीय लेखों के रूप में हुआ था, जिन्हें पढ़कर ऐसा लगा कि इन लेखों का प्रकाशन पुस्तक के रूप में भी होना चाहिए, क्योंकि यह जन-साधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। उन्हीं लेखों का यह संशोधित और संवर्द्धित संस्करण है। 'जैनपथ प्रदर्शक' में जिन्होंने किश्तों में पढ़ लिया है, वे भी पुनः पढ़ें। किश्तों में पढ़ने की अपेक्षा एक साथ समग्ररूप से पढ़ने का आनन्द कुछ और ही होता है। फिर इसमें तो परिवर्तन भी बहुत हुआ है ।

सर्वाधिक गौरव की बात यह है कि इस कृति के चार संस्करण हिन्दी में छपने के साथ ही मराठी, गुजराती व कन्नड़ में भी इसके संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जो इस कृति की लोकप्रियता का ज्वलन्त प्रमाण हैं। इस प्रकार लेखक की प्रस्तुत कृति भी संस्कार, बिदाई की बेला तथा जिनपूजनरहस्य की भाँति लोकप्रिय हो रही है ।

इस कृति का हिन्दी में यह पाँचवाँ संस्करण है। जो बावन सौ की संख्या में प्रकाशित किया जा रहा है । इस संस्करण सहित हिन्दी में अब तक यह २९ हजार की संख्या में प्रकाशित हो चुकी है। साथ ही मराठी, गुजराती व कन्नड़ में भी मुद्रित होना इस पुस्तक की लोकप्रियता को दर्शाता है ।

प्रस्तुत पंचम संस्करण को आपके हाथों में इतने आकर्षक मुद्रण में पहुँचाने का श्रेय श्री सोहनलाल जैन, जयपुर प्रिंटर्स को ही जाता है, जिन्होंने इसके मुद्रण में व्यक्तिगत रुचि लेकर पुनः अपनी ओर से कम्प्यूटर पर कम्पोजिंग कर मुद्रित किया है। एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन विभाग के प्रबन्धक श्री अखिल बंसल तो सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए बधाई के पात्र हैं ही। कृति आपको नई दिशा दे, इसी भावना के साथ।

अक्षय तृतीया — **नेमीचंद पाटनी**

१३/५/९४ महामंत्री - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

पंचम संशोधित, संवर्द्धित संस्करण

प्रस्तुत लघुकाय पुस्तिका को पाठकों ने स्वयं तो प्रीति पूर्वक पढ़ा ही, पसंद किया ही; दूसरों को भी पढ़ने के लिए प्रेरित किया, प्रोत्साहित किया; तभी तो इतने कम समय में इसके चार-चार भाषाओं में नौ-नौ संस्करण मुद्रित हो सके। इसी से उत्साहित होकर लेखक ने हिन्दी के इस पंचम संस्करण को और भी संशोधित व संवर्द्धित कर रही-सही कसर को भी पूरा करने का प्रयत्न किया है।

इस णमोकार महामंत्र की महानता के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों एवं कथाओं से जहाँ एक ओर जैनजगत में इसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है, इसके बारे में जानने की जिज्ञासा जगी है; वहीं दूसरी ओर प्रथमानुयोग के प्रयोजन व कथन पद्धति को न समझ पाने से, तत्सम्बन्धी अभिप्राय की अनभिज्ञता से भ्रान्त धारणायें भी बहुत फैली हैं ।

उन भ्रान्त धारणाओं का थोड़ा-बहुत निराकरण तो पूर्व संस्करणों में भी यथास्थान हुआ ही है; किन्तु इस प्रस्तुत पंचम संस्करण में एक स्वतंत्र नया अध्याय ऐसा जोड़ा है, जिसमें मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय में आये प्रथमानुयोग की कथन पद्धति के आलोक में णमोकार महामंत्र की महिमा को मंडित करने वाली आठ पौराणिक कहानियों की विषयवस्तु व उनके प्रयोजन को बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है।

ज्ञातव्य है कि यह अतिरिक्त अध्याय जो यहाँ जोड़ा गया है; लेखक की अन्य कृति 'संस्कार' के २०वें अध्याय का ही संशोधित अंश है, उपयोगी होने से उस अंश को थोड़े संशोधन के साथ यहाँ दिया गया है।

- नेमीचंद पाटनी

प्रस्तावना

"शुद्धातम अरु पंच गुरु, जग में सरना दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥"

अध्यातमजगत के ख्यातिप्राप्त मनीषी विद्वान पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने उपर्युक्त पंक्तियों में कहा है कि सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए विश्व में दो ही शरण हैं, निश्चय से शुद्धात्मा और व्यवहार से पंचपरमेष्ठी। पर, मोही जीव इन्हें तो जानते-पहचानते नहीं और शरीर तथा संयोगों की अनुकूलता एवं धन-वैभव की उपलब्धि में ही सुख मानते हैं, एतदर्थ कोई तो इसके माध्यम से मणि-मंत्र-तंत्र की साधना किया करते हैं और कोई संयोगों की अनुकूलता का साधन समझ बैठे हैं। पर, ऐसे जीव अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हैं।

जिसप्रकार जगत में शीलवती स्त्री के जीवन के दो ही सच्चे सहारे हैं - एक पिता का घर और दूसरा पति का घर। पर, जो स्त्री इनकी अवहेलना करके अन्य घरों में वास करती है, उसे भ्रष्ट हुआ ही जानो। उसीप्रकार धर्मात्माओं को भी दो ही सच्चे शरण हैं; एक - शुद्धात्मा और दूसरे - पंचपरमेष्ठी। पर, जो जीव इनकी उपेक्षा या अवहेलना करके लौकिक कामनाओं से अन्य मणि-मंत्रादि की साधना एवं देवी-देवताओं की उपासना में ही रत रहते हैं, उन्हें भी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट ही जानो ।

वस्तुतः सच्चा शरण धन नहीं, धर्म है; देवी-देवता नहीं, पंच परमेष्ठी हैं। जो इनकी शरण में आ जाता है, उसे किसी अन्य की शरण नहीं खोजनी पड़ती। वह इतना महान बन जाता है कि देवी-देवताओं के स्वामी सौ-सौ इन्द्र उसे नमन करते हैं।

जबतक पूर्णता प्राप्त न हो, तबतक सातिशय पुण्योदय के फलस्वरूप ये सब लौकिक अनुकूलतायें भी उसे सहज उपलब्ध होती हैं। पर, धर्मात्मा उनसे कोई आशा एवं अपेक्षा नहीं रखते।

णमोकार महामंत्र उन्हीं पंचपरमेष्ठी का वाचक व प्रतिपादक है। अत: जब आत्मा में जाना या ठहरना संभव नहीं होता और विषय-कषाय में जाना अनन्त कष्टदायक प्रतीत होता है, तब इससे बचने के लिए एकमात्र पंचपरमेष्ठी या णमोकार मंत्र ही शरण है। पापों के पुंज पंचेन्द्रियों के विषयों से बचने के लिए एवं रत्नत्रय की वृद्धि के लिए ज्ञानी भी इसी णमोकार मंत्र द्वारा पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी प्रवचनसार में यही कहा है :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो पुरुष अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानते-पहचानते हैं, वे अपने स्वरूप को जानते हैं। और जो अपने स्वरूप को जानते हैं, निश्चयत: उन्हीं के मोहकर्म का नाश होता है ।

अत: यदि हमें अपने मोहान्धकार का अभाव कर सम्यग्ज्ञान सूर्य प्रगट करना है तो पंचपरमेष्ठी का स्वरूप जानना अति आवश्यक है। इसके जाने-पहचाने बिना आत्मोपलब्धि संभव नहीं है।

एतदर्थ जिनवाणी में सर्वत्र णमोकार मंत्र जपने की प्रेरणा दी गई है। पर, णमोकार मंत्र जपने का अर्थ यह नहीं है कि जितनी जल्दी बने माला पूरी कर ली और जाप हो गया। यदि समय न हो तो भले नौ बार ही पढ़ें, परन्तु मंत्र बोलते समय एक-एक परमेष्ठी के स्वरूप का विचार करते हुए जाप करें। प्रयत्न करें कि आपका उपयोग पंचपरमेष्ठी के स्वरूप से हटकर अन्यत्र विषय कषाय में न जाय। यदि वहाँ से हटे तो आत्मसन्मुख ही हो ।

प्रस्तुत कृति में विविध आचार्यों एवं विद्वान मनीषियों के विचारों का सहारा लेकर अत्यन्त सरल भाषा-शैली में पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप आदि को विशद रूप से समझाने का प्रयत्न किया है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे। -

– (पण्डित) रतनचन्द भारिल्ल

णमोकार महामंत्र

मंगलाचरण

नमन करूँ अरहंत को, नमन सिद्ध भगवन्त ।
आचारज उवझाय अरु, सकल साधु गुणवन्त ॥ १ ॥

गर्भित जिसमें हैं सभी, द्वादशांग जिनवैन ।
महामंत्र नवकार का, जाप करूँ दिन रैन ॥ २ ॥

मंगलमय मंगलकरण, महामंत्र नवकार ।
तीन लोक तिहुँ काल की, सकल वस्तु में सार ॥ ३ ॥

सभी मंगलों में प्रथम, मंगलमय नवकार ।
इसके चिन्तन मनन में, अघ न लेय अवतार ॥ ४ ॥

नित्य जपै नवकार जो, प्रातः हो प्रतिबुद्ध ।
अल्प काल में होयगा, अन्तर-बाहर शुद्ध ॥ ५ ॥

पंच परमेष्ठी का प्रतीक 'ॐ'

पाँच परमेष्ठियों के नामों के आद्य अक्षरों को लेकर ॐ पद की रचना हुई है। अरहंत और अशरीर (सिद्ध) का 'अ', आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ' और मुनि का 'म'। इसप्रकार अ+अ+आ+उ+म् = ओम् (ॐ)पद का निर्माण हुआ है।

जैसा कि निम्नांकत गाथा से स्पष्ट है :-

"अरिहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया।
मुणिणो पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेष्ठी ॥[1]"

ब्रह्मदेव ने उपर्युक्त पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र में अर्थ समझने पर जोर देते हुए कहा है -

"मंत्रशास्त्र के सर्व पदों में सारभूत, इसलोक में और परलोक में इष्टफल देने वाले, पंचपरमेष्ठी के वाचक इन पदों का अर्थ जानकर तथा अंतरंग में अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्मरणरूप और बाह्य में वचन के शुद्ध उच्चारण रूप इन पदों का जाप करो। तथा शुभोपयोग रूप त्रिगुप्त अवस्था में मौनपूर्वक इनका ध्यान करो ।[2]"

इसप्रकार 'ॐ' अक्षर भी पंचपरमेष्ठी का प्रतिपादक होने से णमोकार मंत्र की भाँति ही एकाक्षरी मंत्र है। इस मंत्र के माध्यम से भी पंचपरमेष्ठी का ध्यान और स्मरण किया जाता है।

अर्हत् अशरीरी मुनि, आचारज उवझाय ।
ओंकार ध्वनि में लसें, पाँचों पद सुखदाय ॥

□

१, २. वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ४९ की ब्रह्मदेवकृत टीका में उद्धृत पृष्ठ २३५

णमोकार मंत्र : निष्काम महामंत्र

णमोकार मंत्र समस्त जैनधर्मावलम्बियों का सर्वमान्य महामंत्र है। अनेक सम्प्रदायों एवं उपसंप्रदायों में विभक्त सम्पूर्ण जैन समाज इसे अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, इसका प्रतिदिन जाप करता है। प्रत्येक मंगल अवसर पर इसका पाठ बड़ी ही श्रद्धा के साथ किया जाता है। शायद ही ऐसा कोई जैन होगा, जिसे यह महामंत्र कंठस्थ न हो ।

ज्ञातव्य है कि परम्परागत नियमानुसार प्रसव के ४५ दिन बाद, जब माँ प्रथमवार दर्शनार्थ जिन मन्दिर जाती है, तभी डेढ़माह की नन्हीं-सी उम्र में जैनकुल में जन्मे प्रत्येक नवजात शिशु के कान में यह महामंत्र दे दिया जाता है।

इस महामंत्र में जैनजगत के परम आराध्य पंचपरमेष्ठियों को सामूहिक रूप से नमस्कार किया गया है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके उन परमपदों को नमस्कार किया गया है, जिन्हें यह आत्मा आत्माराधना के परम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करता है। मोक्ष और मोक्षमार्ग स्वरूप इन पाँच अवस्थाओं को प्राप्त करनेवाले आत्मा ही इस महामंत्र के आराध्य हैं, वाच्य हैं।

इस महामंत्र में परमेष्ठियों को नमस्कार करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा गया है, न तो किसी प्रकार की कोई आकांक्षा ही व्यक्त की गई है और न कोई कामना ही की गई है। निष्काम वंदना ही इसकी महानता है।

इसकी महानता से अभिभूत जैनजगत में इसके संबंध में जितनी श्रद्धा और जिज्ञासा पाई जाती है, भ्रान्त धारणायें भी उससे कम प्रचलित नहीं हैं। भ्रान्त धारणाओं के निराकरण और जिज्ञासा के उपशमन हेतु इसका जितना भी परिशीलन किया जाय, कम है। इसका परिशीलन आत्महित के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

णमोकार महामंत्र मूलतः इसप्रकार है :-

"णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥ "

इसका सामान्य अर्थ यह है कि लोक में सब अरहंतों को नमस्कार हो, सब सिद्धों को नमस्कार हो, सब आचार्यों को नमस्कार हो, सब उपाध्यायों को नमस्कार हो, और सब साधुओं को नमस्कार हो ।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु - ये पाँचों परमेष्ठी कहलाते हैं। इस मंत्र में इन्हीं पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।

केवल वचनों से बोलकर या काय से झुककर नमस्कार कर लेना ही वास्तविक नमन नहीं है। पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को समझकर, उनके गुणों से पूर्ण परिचित होने पर उनके प्रति जो गुणानुराग उत्पन्न होता है । उनके प्रति जो समर्पण का भाव उत्पन्न होता है; वही वास्तविक नमन है।

जो जीव इन पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को जानकर -पहचानकर उनको नमन करता है, स्मरण करता है, उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर उनका अनुकरण करता है; उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है, वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। एतदर्थ पाँचों परमेष्ठियों की विस्तृत जानकारी अपेक्षित है।

इस मंत्र में सबसे पहले पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ अरहंत भगवान तथा सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है, उसके बाद वीतरागी मार्ग पर चलनेवाले सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और सामान्यसाधु - सभी आ जाते हैं।

अरहंत, सिद्धादि पाँचों 'परमपद' हैं और जो इन पाँचों परमपदों में स्थित होते हैं, उन्हें पंचपरमेष्ठी कहते हैं। □

अरहंत परमेष्ठी

"णट्ठचदुघाइकम्मो, दंसणसुहणाणवीरियमइयो ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥[१]

जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट किये हैं, जो (अनन्त) दर्शन-सुख-ज्ञान-वीर्यमय हैं, जो उत्तम देह में विराजमान हैं और जो शुद्ध (अठारह दोष रहित) हैं - ऐसे आत्मा अरहंत हैं, उनका ध्यान करने योग्य है ।"

"घणघाइ कम्म रहिया केवलणाणाइ परम गुण सहिया।
चोंत्तिस अदिसय जुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

घनघातिकर्म रहित, केवल ज्ञानादि परम गुण सहित और चौंतीस अतिशय संयुक्त भगवान अरंहत होते हैं।[२]

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप अरहंत पद प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में इसप्रकार लिखा है :-

"जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभाव साधन द्वारा चार घाति कर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए; वहाँ अनंतज्ञान द्वारा तो अपने अनंत गुण-पर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को युगपत् विशेषपने से प्रत्यक्ष जानते है, अनंतदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते हैं, अनंतवीर्य द्वारा ऐसी सामर्थ्य को धारण करते हैं, अनंतसुख द्वारा निराकुल परमानंद का अनुभव करते हैं। पुनश्च जो सर्वथा राग-द्वेषादि विकारी भावों से रहित होकर शान्तरस रूप परिणमित हुए हैं; तथा क्षुधातृषादि समस्त दोषों से मुक्त होकर देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं; तथा आयुध-अम्बरादिक व अंग विकारादिक काम-क्रोधादि निन्द्य भावों के चिह्नों से रहित जिनका परम औदारिक शरीर हुआ है; तथा जिनके वचनों से लोक में धर्मतीर्थ प्रवर्तन होता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है; तथा

---

१. वृहद् द्रव्य संग्रह, गाथा ५० २. नियमसार गाथा ७१

जिनके लौकिक जीवों को प्रभुत्व मानने के कारणरूप अनेक अतिशय और नानाप्रकार के वैभव का संयुक्तपना पाया जाता है; तथा जिनका अपने हित के अर्थ गणधर व इन्द्रादिक सेवन करते हैं । – ऐसे सर्वप्रकार से पूजने योग्य श्री अरहंत देव हैं ।[१]"

पण्डित टोडरमलजी के उक्त कथन में अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो गया है। एक सामान्य गृहस्थ क्रमशः गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म धारण कर, निज भगवान आत्मा की ध्यानरूप उत्कृष्ट आराधना कर, चार घातिया कर्मों का नाश करता हुआ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख रूप परिणमित होकर अरहंत बनता है। – इसप्रकार श्री टोडरमल जी ने अरहंत बनने की विधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इसमें अनन्तज्ञानादिरूप अनन्त चतुष्टय के स्वरूप को भी समझा दिया गया है। जैसे कि अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य द्वारा सम्पूर्ण जगत को जानते-देखते हैं, अनन्त सुख का उपभोग करते हैं । वे जानने-देखने तथा उपभोग करने आदि की शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

इनके अतिरिक्त अरहंत अवस्था में होनेवाले बाह्य अनुकूल संयोगों का भी ज्ञान करा दिया गया है।

अरहन्त पद का स्वरूप जानने के लिए आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन भी मनन योग्य है :-

"आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।५।।

जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हों, उन्हें आप्त कहते हैं। इन तीन गुणों के बिना किसी को भी आप्तपना संभव नहीं है।"

अरहन्त भगवान अपनी इस वीतरागता, सर्वज्ञता एवं हितोपदेशिता के कारण ही पूज्य हैं, आराध्य हैं, सभी आत्मार्थियों द्वारा आराधना करने योग्य हैं। अतः यहाँ अरहन्त भगवान की उक्त तीनों विशेषताओं पर विशेष विचार अपेक्षित है।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २

इस संदर्भ में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित "तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ" में समागत निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

"सच्चे देव अर्थात् आप्त की परिभाषा में समागत तीनों विशेषणों को सही रूप में जानने के लिए उनका स्वरूप जानना आवशयक है।

पहिला विशेषण है वीतराग। जो राग-द्वेष-मोह, जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि अठारह दोषों[१] से रहित हों, उन्हें वीतराग कहते हैं।[२]

वीतरागी परमात्मा का उपासक ही वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करनेवाला वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

वीतरागी भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उपासना में अनेक विकृतियाँ आ जाना सम्भव है। यही कारण है कि आज हम देवमूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और 'चमत्कार को नमस्कार' की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं, उन मंदिरों में विशेषकर उन मूर्तियों के समक्ष तथाकथित भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है; तथा जिनके लौकिक समृद्धि एवं संतानादि प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रसारित हैं, वहाँ तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और शेष मंदिर या तीर्थ स्थान, जो विशुद्ध वीतरागता के प्रतिबिम्बि है वे खण्डहर होते जा रहे हैं। वहाँ के मंदिरों और तीर्थों की जो दयनीय दशा होती जा रही है, वह देखते नहीं बनती।

---

१. जनम जरा तिरषा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, यह अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरहंत के, सो छबि लायक मोष॥

२. क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥
-रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियाँ हैं। उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्तियों के माध्यम से पूजे जानेवाले भगवान महावीर पृथक्-पृथक् नहीं, वरन् एक हैं। भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और संतान धन आदि देने के कारण नहीं। जरा सोचिए, विचार कीजिए; जो महान् आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना रत हुए हों, उनसे ही धनादि की चाह करना कितना हास्यास्पद है ? उनको भोगादि का देनेवाला कहना क्या उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना नहीं है ?

सच तो यह है कि वीतरागी भगवान प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते ही नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड़ ही करते हैं; फिर भी यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुख दाता मान भी लिया जाय तो भी यह कैसे सम्भव है कि वे अमुक मूर्ति के माध्यम से ही कुछ देंगे, अन्य मूर्ति के माध्यम से नहीं ? यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नहीं देते, किन्तु उनके उपासक को सहज ही पुण्यबंध होता है। तो क्या अमुक मूर्ति की पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिरों में या अन्य मूर्तियों के सामने रखने से नहीं ?

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भेदभाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं तो शान्तिनाथ शान्ति देते हैं। इसीप्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) को ठीक करनेवाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठ रोग निवारण करनेवाला कहा जाता है। भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एकसी शक्ति (अनन्तवीर्य) के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है ? एक तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते ? ऐसा कोई भेद तो अरहंत सिद्ध भगवंतों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्त्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे तो

कृतकृत्य हैं। वे कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना शेष ही नहीं रहा। वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं, अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिये। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतराग का उपासक हो ही नहीं सकता। विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पापबंध ही होता है, पुण्य का बंध नहीं होता।

सच्चे देव का सही स्वरूप न जानने वाले भक्तों की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"तथा उन अरहंतों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधमउधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमति कर्त्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानता है; उसीप्रकार यह अरहन्त को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त तो उनको निमित्त मात्र हैं, इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण संभव होते हैं।

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं।[१]"

"तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादि की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्त्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुद्धोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादि की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजन सहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे ?[२]"

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२२
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२२

सच्चे देव का दूसरा विशेषण है सर्वज्ञ। अलोकाकाश सहित तीनलोक व तीनकाल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पयार्यों सहित एक समय में पूर्णतः जानें, वे सर्वज्ञ हैं।[१]

लोक में सब मिलाकर अनन्तद्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होतीं हैं। उन समस्त द्रव्यों, गुणों और पयार्यों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियों की सहायता के बिना परिपूर्ण रूप से जानते हैं। समस्त जगत में जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्यकाल में जो कुछ भी होनेवाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही स्पष्ट झलकता है।

'जो सबको जाने सो सर्वज्ञ' - सामान्यरूप से इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी सर्वज्ञत्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान न होने के कारण जब उनके सामने यह बात आती है कि :-

"जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहिं होसी, काहे होत अधीरा रे॥

वीतराग-सर्वज्ञ देव ने भविष्य के संबंध में जो-जो देखा-जाना है, वही होगा, अन्यथा नहीं हो सकता है, अतः अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।'

- यह सुनकर वे एकदम चौंक जाते हैं और कह उठते हैं कि - तब तो हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान के अधीन हो गया, हम जो चाहें वह नहीं कर सकते। हम तो परतंत्र हो गये।"

उनकी समझ में यह नहीं आता कि भगवान के ज्ञान के आधीन वस्तु का परिणमन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमति हुई थी, हो रही है और होगी; भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है।

ज्ञान तो 'पर' को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं है। जिसप्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं है, उसीप्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान नहीं है; दोनों का स्वतंत्र

१. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १ सूत्र २९

परिणमन अपने-अपने कारण होता है। ज्ञान के जान लेने से वस्तु की स्वतंत्रता कैसे खण्डित हो जावेगी ? स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान ने तो वस्तु के परिणमन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जाना है।

उन्हें सर्वज्ञता की वास्तविक श्रद्धा तो होती नहीं, किन्तु शास्त्रों में लिखा है कि 'भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं,' अतः उन्हें सर्वज्ञ माने बिना भी रहा नहीं जाता। यही कारण है कि वे सर्वज्ञता की व्याख्या में अपनी रुचि के अनुसार कल्पनाएँ करते हैं। कहते हैं कि 'भूतकाल और वर्तमान में तो जो कुछ होना था, हो चुका या हो रहा है, उसे तो भगवान निश्चित रूप से जानते हैं; किन्तु भविष्य जो अभी घटित ही नहीं हुआ, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि निश्चित रूप ऐसा ही होगा ?' भविष्य को निश्चित मानने में उन्हें स्वतंत्रता खण्डित होती लगती है। कहते हैं कि 'जब भविष्य निश्चित ही नहीं है तो उसको निश्चित कैसे कहा जा सकता है, अतः उसे सर्वज्ञ सशर्त जानते होंगे।'

ज्ञान अनिश्चयात्मक न होकर निश्चयात्मक होता है। भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान भी काल्पनिक सिद्ध होंगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ हजारों वर्षों आगे की कर दीं जातीं हैं और वे सत्य निकलतीं हैं। लाखों वर्षों आगे की भविष्य की निश्चित घोषणाओं से आगम भरे पड़े हैं और वे घोषणाएँ भी 'ऐसा ही होगा' की भाषा में हैं; अतः निश्चित भविष्यज्ञता में शंका होने पर समस्त आगम का महल ध्वस्त होता नजर आयेगा। इसलिए सच्चे देव का स्वरूप समझने के लिए सर्वज्ञता का निर्णय अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि वही धर्म का मूल है।

सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य देव का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:-

'जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र ने समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इसप्रकार की है:-

"एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध स्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्र को - मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है।[२]"

आत्मा का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एक समय में जानने का है। अतः जब आत्मा के ज्ञानगुण की पूर्ण विकसित शुद्ध पर्याय 'केवलज्ञान' प्रगट हो जाती है तो उससे समस्त लोकालोक सहज ही प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने 'आत्ममीमांसा' में, आचार्य अकलंकदेव ने उसकी टीका 'अष्टशती' में एवं आचार्य विद्यानन्दि ने 'अष्टसहस्री' में विस्तार से की है। अन्य जैन न्याय ग्रन्थों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु बंधुओं को अपनी विशेष जिज्ञासा वहाँ से शान्त करनी चाहिए ।

आप्त का तीसरा विशेषण है हितोपदेशी। आत्मा का हित सच्चे सुख की प्राप्ति में ही है और सच्चा सुख निराकुलता में ही होता है। आकुलता मुक्ति में नहीं है, अतः मुक्ति के मार्ग में लगना ही प्रत्येक सुखाभिलाषी का कर्त्तव्य है। मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान की दिव्यवाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश आता है, अतः वे ही हितोपदेशी हैं। उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम लिखा गया है, अतः शास्त्र का सही स्वरूप जानना ही 'हितोपदेशी' विशेषण का सही ज्ञान है।[३]"

१. प्रवचनसार, गाथा ३९
२. प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका
३. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ११४ से १२०

इसप्रकार जो जीव 'णमो अरहंताणं' का अर्थ समझकर अरहंत भगवान को नमस्कार करते हैं, उनके सब पापों का नाश अवश्य होता है और निकट भविष्य में ही एक न एक दिन ऐसा आता ही है जब वे स्वयं अरहन्त पद को प्राप्त करते हैं।

अरहंत भगवान का स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने का फल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं -

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥[1]

जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य विलय को प्राप्त होता है।"

अमृतचन्द्राचार्य उक्त गाथा की टीका समाप्त करते हुए अंत में कहते हैं कि - 'यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय कर लिया है। अर्थात् यदि अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान से अपने आत्मा का ज्ञान हो जाता है और आत्मज्ञान से मोह नष्ट हो जाता है तो मैंने अपने मोह को जीतने का उपाय कर लिया है।' अतः जिन्हें मोह का नाश करना हो, उन्हें अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप अवश्य जानना चाहिए।

शास्त्रों में अरहंत परमेष्ठी के ४६ गुणों (विशेषणों) का वर्णन है। उनमें कुछ गुण (विशेषण) तो शरीराश्रित हैं, कुछ पुण्याश्रित हैं और कुछ आत्मा से संबंधित हैं।

४६ गुणों में ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्तचतुष्टय हैं। ३४ अतिशयों में १० जन्म के अतिशय तो शरीर से संबंधित हैं, १० केवलज्ञान के अतिशय बाह्य पुण्य सामग्री से संबंधित हैं और १४ देवकृत तो स्पष्ट देवों द्वारा किए हुए हैं ही। ८ प्रातिहार्य भी बाह्य विभूतियाँ हैं। केवल ४ अनन्तचतुष्टय ही आत्मा के निजी गुण हैं, जो प्रत्येक अरहंत में पाये जाते हैं। अनन्तचतुष्टय

१. प्रवचनसार, गाथा ८०

के सिवाय ४२ गुण (विशेषण) केवल तीर्थंकर-अरहंतों के ही होते हैं, सभी अरहंतों के नहीं। ४६ गुणों का विवरण इसप्रकार है :-

जन्म के दश अतिशय :-

अतिशय रूप सुगंध तन, नाहिं पसेव निहार।
प्रियहितवचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार।।
लच्छन सहस रु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभ नाराच जुत, ये जनमत दश जान॥

१. अत्यन्त सुन्दर शरीर, २. अति सुगन्धमय शरीर, ३. पसेव रहित शरीर, ४. मलमूत्र रहित शरीर, ५. हित-मित-प्रिय वचन बोलना, ६. अतुल्य बल, ७. दूध के समान सफेद खून, ८. शरीर में एक हजार आठ लक्षण, ९. समचतुस्रसंस्थान, १०. वज्रवृषभनाराचसंहनन; ये दश अतिशय जन्म से ही होते हैं।

केवलज्ञान के दश अतिशय :-

योजन शत इक में सुभिख, गगन गमन मुख चार।
नहिं अदया उपसर्ग नहिं, नाहीं कवलाहार॥
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़ैं नख-केश।
अनमिष दृग छायारहित, दश केवल के वेश॥

१. एक सौ योजन में सुभिक्षता, २. आकाश में गमन, ३. चारों ओर मुखों का दीखना, ४. अदया का अभाव, ५. उपसर्ग का न होना, ६. केवलहार का नहीं होना, ७. समस्त विद्याओं का स्वामीपना, ८. नख-केशों का न बढ़ना, ९. नेत्रों की पलकें न झपकना, १०. शरीर की छाया न पड़ना; ये दश अतिशय केवलज्ञान के समय प्रगट होते हैं।

देवकृत चौदह अतिशय:-

देव रचित हैं चारदश, अर्द्धमागधीभाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥
होत फूल-फल ऋतु सबै, पृथिवी काँच समान।
चरण-कमल तल कमल हैं, नभतैं जय-जय बान॥

मन्द-सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमिविषैं कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरहंत के, ये चौंतीस प्रकार॥

१. भगवान की अर्द्धमागधी भाषा का होना, २. समस्त जीवों में परस्पर मित्रता का होना, ३. दिशाओं का निर्मल होना, ४. आकाश का निर्मल होना, ५. सब ऋतु के फल-फूलों का एक ही समय में फलना, ६. एक योजन तक की पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना, ७. चलते समय भगवान के चरण-कमलों के तले स्वर्ण-कमलों का होना, ८. आकाश में जय-जय ध्वनि का होना, ९. मन्द सुगंधित पवन का चलना, १०. सुगंधमय जल की वृष्टि होना, ११ भूमि का कण्टकरहित होना, १२. समस्त जीवों का आनन्दमय होना, १३. भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना, १४. छत्र-चंवर, ध्वजा-घण्टा आदि आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना; ये चौदह अतिशय देवकृत होते हैं।

आठ प्रातिहार्य :-

तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार।
तीन छत्र सिर पै लसैं, भामण्डल पिछवार ॥
दिव्यध्वनि मुख तैं खिरे, पुष्पवृष्टि सुर होय ।
ढोरैं चौंसठ चमर जख, बाजैं दुन्दुभि जोय॥

१. अशोक वृक्ष का होना, २. रत्नजड़ित सिंहासन, ३. भगवान के सिर पर तीन छत्रों का होना, ४. भगवान की पीठ के पीछे भामण्डल का होना, ५.भगवान के मुख से निरक्षरी दिव्यध्वनि का होना, ६. देवों के द्वारा फूलों की वर्षा होना, ७. यक्ष देवों द्वारा चौंसठ चँवरों का ढुरना, ८. दुन्दुभि बाजों का बजना; ये आठ प्रातिहार्य हैं।

चार अनन्तचतुष्टय :-

ज्ञान अनन्त अनन्त सुख, दरस अनन्त प्रमान।
बल अनन्त अरहंत सो, इष्टदेव पहचान॥

१. अनन्तदर्शन, २. अनन्तज्ञान, ३. अनन्तसुख, ४. अनन्तवीर्य-ये चार अनन्तचतुष्टय हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त ४६ गुणों में निश्चय से आत्मा के तो केवल ४ अनन्तचतुष्टय ही हैं। शेष ४२ गुण तो केवल कहने के लिए आत्मा के हैं। वस्तुतः वे आत्मा के गुण नहीं हैं। वे तो पुण्योदय से प्राप्त विशेषतायें हैं, जो पुण्य के साथ ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हें ही यहाँ व्यवहार अरहंत परमेष्ठी के गुणों में गिनाया गया है।

तीर्थंकर केवलियों के अतिरिक्त जो सामान्य केवली, मूक केवली, उपसर्ग केवली, अंतकृत केवली आदि होते हैं, उनके ये उपर्युक्त ४६ गुण न होकर केवल अनन्तचतुष्टयरूप ४ गुण ही होते हैं। उपर्युक्त ४६ गुण तो तीर्थंकर अरहंतों के ही होते हैं, अन्य सामान्य अरहंतों के नहीं।

जब साधक जीव ऐसे अनन्तचतुष्टय स्वरूप अरहंत परमेष्ठी के आलम्बन से निज शुद्धात्मा की साधना-आराधना करता है, तो उसे अल्पकाल में ही आत्मोपलब्धि होकर स्वानुभूति प्रगट हो जाती है। यही अरहंत भक्ति का या अरहंतों को नमन करने का सर्वोत्कृष्ट फल है। साथ में कषाय की मंदता और परिणामों की विशुद्धि से जो मुक्ति का साधनभूत सातिशय पुण्य बंधता है सो अलग। पर ज्ञानी धर्मात्मा का लक्ष्य एक मात्र स्वात्मोपलब्धि का ही रहता है, पुण्य बंध का नहीं। पर पुण्य भी अन्न के साथ भूसे की भाँति सहज होता ही है, किंतु ज्ञानी उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है। उसकी दृष्टि में वह उपादेय नहीं होता। □

चमत्कारिक महामंत्र

णमोकार मंत्र सम्प्रदायातीत, सार्वभौमिक, सार्वजनिक, सार्वकालिक महामंत्र है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमन/स्मरण नहीं किया गया है, वरन् जो परम पद को प्राप्त हो चुके हैं, पूर्णता व पवित्रता प्राप्त कर चुके हैं या पूर्णता के मार्ग पर अग्रसर हैं – उन परमेष्ठियों को स्मरण किया गया है, नमन किया गया है। जो भी इसकी जाप करेगा वह आपोआप एक दिन पूर्णता प्रप्त करेगा – यही इस महामंत्र का चमत्कार है। – लेखक

सिद्ध परमेष्ठी

"णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥[1]

जिसने आठ कर्मों और देह का नाश किया है, जो लोकालोक का ज्ञाता-दृष्टा है, पुरुषाकार है, वह आत्मा सिद्ध है। लोक के शिखर पर विराजमान उस सिद्ध परमेष्ठी का तुम ध्यान करो।"

पण्डित टोडरमलजी ने सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी सिद्धपद प्राप्त होने की प्रक्रिया के रूप में ही लिखा है, जो इसप्रकार है -

"जो गृहस्थ अवस्था को त्यागकर, मुनिधर्म साधन द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर अनन्तचतुष्टय भाव प्रकट करके कुछ काल पीछे चार अघातिकर्मों के भी भस्म होने पर परम औदारिक शरीर को भी छोड़कर ऊर्द्धगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हुए, वहाँ जिनको समस्त परद्रव्यों का संबंध छूटने से मुक्त अवस्था की सिद्धि हुई, तथा जिनको समस्त चरम शरीर से किंचित् न्यूनपुरुषाकारवत् आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ, तथा जिनके प्रतिपक्षी कर्मों का नाश हुआ, इसलिये समस्त सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनादिक आत्मिक गुण सम्पूर्णतया अपने स्वभाव को प्राप्त हुए हैं, तथा जिनके नोकर्म का सम्बन्ध दूर हुआ, इसलिए समस्त अमूर्तत्वादिक आत्मिक धर्म प्रगट हुए हैं तथा जिनके भावकर्म का अभाव हुआ, इसलिये निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभावरूप परिणमन हो रहा है, तथा जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का और औपाधिकभाव-स्वभाव का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान स्वयं होने का साधन होता है। जिसके साधने योग्य जो अपना शुद्धस्वरूप, उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब समान

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५१

हैं तथा जो कृतकृत्य हुए हैं, इसलिये ऐसे हो अनंतकाल पर्यंत रहते हैं। - ऐसे निष्पन्न हुए सिद्ध भगवान को हमारा नमस्कार हो।[१]"

उपर्युक्त परिभाषा में सिद्धों का स्वरूप ध्याते हुए मुख्यरूप से निम्नांकित चार बातें कही गई हैं :-

१. प्रथम तीन वाक्यों में तो सिद्धपद प्राप्त होने की प्रक्रिया का दिग्दर्शन है।

२. तत्पश्चात् पाँच वाक्यों में प्रतिपक्षी कारणों का अभाव हो जाने से हुई स्वभावोपलब्धि की चर्चा है।

३. तदनन्तर दो वाक्यों में यह कहा गया है कि सिद्धों का ध्यान भव्य जीवों को स्वयं सिद्ध बनने का साधन है।

४. और अन्त में यह कहा है कि सिद्ध भगवान अपने शुद्ध स्वभाव को दर्शाने के लिए एक स्वच्छ प्रतिबिम्ब है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव सिद्धों के स्वरूप के ध्यान से अपने स्वरूप को पहचान कर उन्हीं के समान मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर अपने प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव करते हैं, उनके सम्पूर्ण आत्मिक गुण प्रगट हो जाते हैं, जिससे वे अनन्तकाल तक अतीन्द्रिय निराबाध सुख को भोगते हैं।

यदि अति संक्षेप में उन सिद्धों का स्वरूप स्मरण रखना हो तो आचार्य नेमीचंद सिद्धान्तचक्रवर्ती की गाथा याद रखनी चाहिए, जो इसप्रकार है :

णिकम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥[२]

सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं अन्तिम शरीर से कुछ न्यून (कम) आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।"

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३
२. वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा १४

सिद्ध के आठ गुण कहे गये हैं, जो इसप्रकार हैं :-

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना ।
सूक्षम वीरजवान, निराबाध गुण सिद्ध के ॥

१. क्षायिकसम्यक्त्व, २. अनन्तदर्शन, ३. अनन्तज्ञान, ४. अगुरुलघुत्व, ५. अवगाहनत्व, ६. सूक्ष्मत्म, ७. अनन्तवीर्य, और ८. अव्याबाध; ये सिद्धों के आठ मूलगुण होते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि जहाँ अरहंत परमेष्ठी के स्वरूप को परिभाषित करते हुए उनकी सर्वज्ञता और वीतरागता पर जोर दिया गया है, वहीं सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप-निरूपण में स्वभावोपलब्धि से उत्पन्न उनके अतीन्द्रिय आनंद और निराकुल सुख पर बल दिया गया है।

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने छहढ़ाला में भी निकल परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है -

"**ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।**
ते हैं निकल अमल परमातम भोगें शर्म अनन्ता ॥[१]

ज्ञानमात्र जिनका शरीर है तथा जो द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म रूप मैल से रहित अतिनिर्मल और महान् सिद्ध परमेष्ठी हैं, वे अनन्तकाल तक अपरिमित-असीम-अनन्त सुख भोगते हैं।"

ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की जो जीव आराधना करते हैं, वे भी अल्पकाल में सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि सिद्धों का ध्यान भव्य जीवों को स्वयं सिद्ध बनने का साधन है। तथा सिद्ध भगवान अपने शुद्ध स्वभाव को दर्शाने के लिए स्वच्छ प्रतिबिम्ब के समान हैं। अतः सभी साधक जीवों को सिद्धों की आराधना अवश्य करना चाहिए। □

---

१. छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द ६

आचार्य परमेष्ठी

साधुओं के स्वरूप में दर्शाई गई सभी विशेषताएँ तो आचार्य परमेष्ठी में होती ही हैं; क्योंकि मूलतः तो वे भी साधु ही हैं; किन्तु संघ के नायक होने के नाते उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं, जिनसे वे आचार्य पद के अधिकारी बनते हैं।

जिसतरह अनेक विद्यार्थियों की कक्षा में एक विद्यार्थी जो कक्षानायक (मानीटर) होता है। वह मूलतः तो विद्यार्थी ही है; अत उसे सारी पढ़ाई-लिखाई और विद्यालय की दिनचर्या का पालन करना आदि तो एक सामान्य विद्यार्थी की भाँति ही पूरे करने पड़ते हैं, किन्तु कक्षानायक के नाते उसे पढ़ाई-लिखाई व दिनचर्या के अतिरिक्त अध्यापक के अभाव में कक्षा के अनुशासन-प्रशासन आदि का उत्तरदायित्व भी वहन करना होता है, एतदर्थ कक्षा का ऐसा छात्र कक्षानायक चुना जाता है जो सामान्य विद्यार्थियों से अधिक प्रतिभावान हो, प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी हो, धीर-वीर – गम्भीर हो, अपनी दिनचर्या में नियमित हो, अपना काम पूरा करने के साथ-साथ दूसरों का सहयोग करने में सक्षम हो, जिसमें संगठन शक्ति हो, जिसे अपने गुरुओं का विश्वास प्राप्त हो, जो ईमानदार हो, निष्पक्ष हो। ठीक इसीप्रकार सर्व साधुओं के संघ में ऐसे साधु को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है जो सामान्य साधुओं से अधिक प्रतिभावान हो, प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी हो, देखने में मनोहर हो, संसार-शरीर व भोगों से विशेष विरक्त हो, धीर-वीर व गंभीर हो, दयालु व उदार हो, मधुरभाषी, शास्त्रमर्मज्ञ और लोक व्यवहार में निपुण हो, दूरदर्शी और कुशल उपदेशक हो, पंचाचार परायण एवं पंचेन्द्रियजयी हो। – ऐसे साधु ही आचार्य पद के योग्य होते हैं। शास्त्रों में आचार्य परमेष्ठी का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह मूलतः इसप्रकार है –

आचार्य के स्वरूप का कथन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-

"पंचाचार समग्गा पंचिंदियदंति दप्प णिद्दलणा।
धीरा गुणगम्भीरा आयरिया एरिसा होंति॥[१]

आचार्य दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य – इन पाँचों आचारों से परिपूर्ण पंचेन्द्रियों रूपी मदान्ध हाथी के दर्प के दलन करने में दक्ष और गुण गंभीर होते हैं।"

इसीप्रकार वादिराज आचार्यदेव ने कहा है कि –

"जो पंचाचार परायण हैं, अकिंचनता के स्वामी हैं, जिन्होंने कषाय स्थानों को नष्ट किया है तथा जो परिणमित ज्ञान के बल द्वारा पंचास्तिकाय के स्वरूप को समझाते हैं और विकसित स्थिर समाधि में जिनकी बुद्धि निपुण है, उन आचार्यों को हम भवदुःख राशि का भेदन करने के लिए पूजते हैं।"

पण्डित सदासुखदासजी ने आचार्य के विशेष गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है –

"आचार्य हैं सो अनेक गुणनि की खानि हैं, श्रेष्ठ तप के धारक हैं।........ कैसेक हैं आचार्य ? जिनके अनशनादि बारह प्रकार के तपनि में निरंतर उद्यम है, अर छह आवश्यक क्रिया में सावधान हैं, अर पंचाचार के धारक हैं, अर दशलक्षण धर्मरूप है परिणति जिनकी, अर मन वचन काय की गुप्ति कर सहित हैं। ऐसे छत्तीस गुणनिकरि युक्त आचार्य होय हैं। अर सम्यग्दर्शनाचार कूँ निर्दोष धारें हैं, अर सम्यग्ज्ञान की शुद्धताकरि युक्त हैं। अर त्रयोदश प्रकार चारित्र की शुद्धता के धारक, अर तपश्चरण में उत्साहयुक्त, अर अपने वीर्य कूँ नहीं छिपावते बाईस परीषह के जीतने में समर्थ – ऐसे निरंतर पंचाचार के धारक हैं।

अंतरंग-बहिरंग ग्रन्थ (परिग्रह) करि रहित, निर्ग्रन्थ मार्ग के गमन करने में तत्पर हैं, अर उपवास बेला-तेला पंचोपवास पक्षोपवास मासोपवास करने में तत्पर हैं, अर निर्जन वन में, अर पर्वतनि के दराड़े अर गुफानि के स्थान में निश्चल शुभ ध्यान में मन कूँ धारे हैं।

---

१. नियमसार, गाथा ७३

शिष्यनि की योग्यता कूँ अच्छी रीति सूँ जानि दीक्षा देने में अर शिक्षा करने में निपुण हैं, अर युक्ति तें नव प्रकार नय के जाननेवाले हैं, अर अपनी काया सूं ममत्व छांड़ि रातदिन तिष्ठैं हैं, संसार कूप में पतन हो जाने के भय तें भयवान हैं। मन-वचन-काय की शुद्धतायुक्त नासिका के अग्रभाग में स्थापित किए हैं नेत्रयुगल जिन्होंने - ऐसे आचार्य कूँ समस्त अंगनि कूँ पृथ्वी में नमाय मस्तक धारि वंदना करिए।

यहाँ ऐसा विशेष जानना - जो आचार्य हैं सो समस्त धर्म के नायक हैं। आचार्यानि के आधार ही समस्त धर्म हैं, यातें ऐसे गुणनि के धारक ही आचार्य होंय हैं।"[१]

पण्डित सदासुखदासजी ने आगे आचार्य परमेष्ठी के अन्य अनेक गुणों का विस्तार से उल्लेख किया है, जिनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है -

मुनिसंघ के नायक आचार्य देखने में मनोहर, कुलीन, लौकिक व्यवहार एवं परमार्थ के ज्ञाता, उत्तम विचार एवं उत्कृष्ट आचारवान, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, प्रौढ़, प्रतिभाशाली एवं प्रभावक व्यक्तित्व के धनी होना चाहिए। तथा मधुरभाषी, शास्त्रमर्मज्ञ, स्वमत व परमत के ज्ञाता, अनेकांत व स्याद्वाद विद्या में निपुण, धीर-वीर तथा निश्चल होने चाहिए।[२]

पं. टोडरमलजी के शब्दों में आचार्य का स्वरूप इसप्रकार है :-

"जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके संघ में नायक हुए हैं। तथा जो मुख्य रूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न रहते हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य याचक जीवों को देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं; जो दीक्षाग्राहक हैं, उनको दीक्षा दोते हैं; जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं, उनको प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते हैं; जो अपने दोषों आचरनेवाले आचार्य परमेष्ठी होते हैं।"[३]

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका, पृष्ठ २१९

२. रत्नकरण्ड श्रवकाचार वचनिका, पृष्ठ २२० के आधार से

३. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३

आचार्य परमेष्ठी की उपर्युक्त परिभाषाओं में निम्नांकित चार बातों पर विशेष बल दिया गया है -

एक तो - उनमें सामान्य साधुओं से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की अधिकता होती है।

दूसरे - वे मुख्य रूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरम में ही मग्न रहते हैं; उनके अंतरंग में दीक्षा, धर्मोपदेश व प्रायश्चित्त आदि देने की मुख्यता नहीं रहती।

तीसरे - उनके लिये आचार्य पद किंचित् भी भारभूत या बोझरूप नहीं होता; क्योंकि जब उनके रागांश के उदय से सहज करुणाबुद्धि होतीं; तब ही वे अपने संघस्थ साधुओं एवं धर्म के जिज्ञासु जीवों को धर्मोपदेश देते हैं, दीक्षाग्राहकों को दीक्षा देते हैं एवं स्वेच्छा से अपने दोष प्रकट करने वालों को प्रायश्चित विधि से शुद्ध करते हैं।

वे किसी भी काम के लिये किसी से प्रतिबंधित नहीं होते तथा उपर्युक्त कार्यों में भी वे अपने उपयोग को अधिक नहीं उलझाते।

चौथे - वे अपनी आत्मसाधना में रत रहते हुए ही यथासाध्य केवल मुनिसंघ की प्रशासन व्यवस्था को संभालते हैं। गृहस्थों एवं गृहस्थों के धर्मायतन मंदिर आदि की व्यवस्था से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। केवल मुनिसंघ के नायक मुनिराज ही वास्तव में आचार्य परमेष्ठी हैं।

'णमो आइरियाणं' में ऐसे ही आचार्यों को नमस्कार किया गया है। जब-जब भी णमोकार मंत्र पढ़ें, तभी आचार्यों का यह स्वरूप हमारे ध्यान का ध्येय व ज्ञान का ज्ञेय बनना चाहिए। जब आचार्य परमेष्ठी का ऐसा यथार्थरूप हमारे ध्यान का ध्येय बनेगा तभी हमारा 'णमो आइरियाणं' बोलना सार्थक होगा।

आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगण होते हैं, जो इसप्रकार हैं -

द्वादश तप दश धर्म जुत, पालें पंचाचार।
षट् आवशि त्रय गुप्ति गुन, आचारज पद सार॥

१. बारह तप, २. दशधर्म, ३. पाँच आचार, ४. छह आवश्चक, ५. तीन गुप्ति; आचार्य परमेष्ठी के ये ३६ मूलगुण होते हैं।

बारह तप - अनशन ऊनोदर करे, व्रत संख्या रस छोर।
विविक्त शयनासन धरै, काय क्लेश सुठोर॥
प्रायश्चित धर विनय जुत, वैयाव्रत स्वाध्याय ।
पुनि उत्सर्ग विचारकै, धरै ध्यान मन लाय॥

१. अनशन, २. ऊनोदर, ३. व्रतपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त शय्यासन, ६. कायक्लेश, ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयाव्रत, १०. स्वाध्याय, ११. व्युत्सर्ग और १२. ध्यान - ये बारह प्रकार के तप हैं।

दश धर्म – छिमा मारदव आरजव, सत्यवचन चितपाग।
संयम तप त्यागी सरब, आकिंचन तियत्याग॥

१. उत्तम क्षमा, २. उत्तम मार्दव, ३. उत्तम आर्जव, ४. उत्तम सत्य, ५. उत्तम शौच, ६ उत्तम संयम, ७. उत्तम तप, ८. उत्तम त्याग, ९. उत्तम आकिंचन, १०. उत्तम ब्रह्मचर्य - ये दश धर्म हैं।

पंचाचार - १. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५. वीर्याचार - ये पाँच पंचाचार हैं।

छह आवश्यक - समता धर वंदन करै, नाना थुति बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्याय जुत, कायोत्सर्ग लगाय॥

१. समता, २.वन्दना, ३. स्तवन, ४. प्रतिक्रमण, ५. स्वाध्याय, ६. कायोत्सर्ग ये छः आवश्यक हैं।

तीन गुप्तियाँ - मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति - ये तीन गुप्तियाँ हैं।

ये सब मिलाकर आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण हैं।

स्वानुभूति से उछलते हुए सुखसागर में निमग्न रहने वाले अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलने वाले आचार्य परमेष्ठी जब शुभभाव की भूमि में आते हैं, तब उन्हें उपर्युक्त ३६ मूलगुणों को निरतिचार पालन करने का ही भाव आता है। और बाहर में इन्हीं बाह्य लक्षणों से उनके स्वरूप को जाना-पहचाना जाता है। स्वभाव में और शुद्ध परिणति में तो सभी साधु एक समान ही होते हैं। केवल शुभभावों में हीनाधिक होने से ही उनमें छोटे-बड़ेपन की पहचान होती है। □

उपाध्याय परमेष्ठी

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप निरूपण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

''रयणत्तय संजुता जिणकहिय पयत्थ देसया सूरा।
णिक्कंखभाव सहिया उवज्झाया एरिसा होति॥[1]

जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक हैं और निःकांक्षभाव सहित हैं, वे उपाध्याय हैं ।''

उपाध्याय के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वृहद्द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव लिखते हैं -

''जो बाह्य व अभ्यंतर रत्नत्रय के आचरण सहित हैं तथा जिनेन्द्रकथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थों में निज शुद्धात्मद्रव्य, निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुद्धात्मतत्त्व और निज शुद्धात्मपदार्थ ही उपादेय हैं और अन्य सर्व हेय हैं । जो ऐसे जिनवाणी के सारभूत पदार्थों का तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों का उपदेश देते हैं, वे उपाध्याय हैं।''[2]

पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप इसप्रकार है :-

''जो बहुत से जैनशास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं । तथा जो समस्त शास्त्रों का सार आत्मद्रव्य में एकाग्रता है, अधिकतर तो उसी में लीन रहते हैं, कभी-कभी कषायांश के उदय से यदि उपयोग वहाँ स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं औरों को पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय हैं। ये मुख्यतः द्वादशांग के पाठी होते हैं ।[3]''

---

१. नियमसार, गाथा ७७ २. वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २४८
३. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४

उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुण होते हैं, जो इसप्रकार हैं :-

ग्यारह अंग - **प्रथमंहि आचारांग गनि, दूजे सूत्र कृतांग ।**
ठाण अंग तीजो सुभग, चौथो समवायांग ॥
व्याख्या पण्णति पाँचवो, ज्ञातृकथा षट् जान ।
मुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृत दश ठान ॥
अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान ।
बहुरि प्रश्न व्याकरण जुत, ग्यारह अंग प्रमान ॥

१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६. ज्ञातृ कथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तःकृत दशांग, ९. अनुत्तरोत्पादक दशांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग - ये ग्यारह अंग हैं।

चौदह पूर्वः- **उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद ।**
अस्तिनास्ति प्रवाद पुनि, पंचम ज्ञान प्रवाद ॥
छट्ठो कर्म प्रवाद है, सतप्रवाद पहचान ।
अष्ट आत्मप्रवाद पुनि, नवमो प्रत्याख्यान ॥
विद्यानुवाद पूरव दशम, पूर्व कल्याण महंत ।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिन्दु है अन्त ॥

१. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीपूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. कर्मप्रवादपूर्व, ७. सत्प्रवादपूर्व, ८. आत्मप्रवादपूर्व ९. प्रत्याख्यान प्रवादपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवादपूर्व, १२. प्राणनुवादपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व, १४. लोक बिन्दूसारपूर्व - ये चौदहपूर्व हैं।

ग्यारह अंग व चौदह पूर्व मिलाकर उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुण होते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं में उपाध्याय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निम्नांकित तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है :-

प्रथम तो, उपाध्याय परमेष्ठी अंतरंग बहिरंग रत्नत्रय के धारी होते हैं।

दूसरे, वे जिनेन्द्र-कथित तत्त्वार्थ के उपदेशक होते हैं।

तीसरे, वे मुख्यरूप से तो द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुत के पाठी होते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि सभी उपाध्याय द्रव्यश्रुतरूप द्वादशांग के पाठी ही हों। भावश्रुतज्ञान तो उनका द्वादशांगरूप ही है, पर सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञाता होने का नियम नहीं है।

चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि – वे मुख्यरूप से तो समस्त शास्त्रों के सार रूप निजात्मद्रव्य में ही मग्न रहते हैं, कभी-कभी कषायांश के उदय से यदि वहाँ उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं व औरों को पढ़ाते हैं।

तात्पर्य यह है कि उपाध्याय परमेष्ठी भी पूर्ण स्वाधीन व स्वावलम्बी हैं। उनका शिष्यों को पढ़ाना भाररूप नहीं होता। यद्यपि उनके सभी कार्य स्वान्तः सुखाय होते हैं, तथापि उनमें शिष्यों का हित भी निहित होता है। □

पौराणिक आख्यान सत्य है, पर ....

'णमोकार मंत्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देव आ गये थे' – यह ***पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है,*** *इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है; पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मंत्र बोलेगा, तब-तब देवता आयेंगे ही, अतिशय होगा ही ?*

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है; ऐसा करने से ऐसा होता ही है? यह तो उसने अपनी ओर से समझ लिया है; अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता ?

ज्ञानी भी णमोकार मंत्र पढ़ रहा है और शांत भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकार मंत्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकार मंत्र तो वह सहज ही अशुभभाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है।

– क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ११५

साधु परमेष्ठी

सच्चे साधु परमेष्ठी के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं :-

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

जिनके विषयों की आशा समूल समाप्त हो गई है, जो हिंसोत्पादक आरंभ और परिग्रह से सर्वथा दूर रहते हैं तथा ज्ञान-ध्यान व तप में लीन रहते हुए निरन्तर निज स्वभाव को साधते हैं वे साधु परमेष्ठी हैं।"[१]

विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्यभाव धन रखते हैं ।
निज-पर के हित साधन में जो, निश-दिन तत्पर रहते हैं,।।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख समूह को हरते हैं ।।[२]

साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुण होते हैं, जो इसप्रकार हैं :-

पंच महाव्रत पंच समिति, पंच इन्द्रिय रोध।
षट् आवश्यक नियम गुण, अष्टविंशति बोध॥

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियविजय, छह आवश्यक एवं सात शेष गुण - ये सब मिलाकर साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। साधुओं के द्वारा इनका निरतिचार रूप से पालन होता है।

पाँच महाव्रत :- **हिंसा अनृत तस्करी, अब्रह्म परिग्रह पाप।**
मन-वच-तन से त्याग करि, पंच महाव्रत थाप॥

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १०
२. मेरी भावना : जुगल किशोर मुख्तार

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों के अभावपूर्वक मन-वचन-काय से हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा त्याग पंचमहाव्रत है।

१ : मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप मोह-राग-द्वेष के अभाव से उत्पन्न वीतराग-परिणति महाव्रती मुनिराजों की भाव अहिंसा है। एवं तत्पूर्वक त्रस-स्थावर जीवों की विराधना नहीं होना द्रव्य अहिंसा है। यह दोनों प्रकार की अहिंसा ही साधु परमेष्ठी का अहिंसा महाव्रत नामक प्रथम मूलगुण है।

इसीप्रकार भाव सत्यादि महाव्रतों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जो इसप्रकार हैं -

२ : मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी आदि तीन प्रकार की चारों कषायों के अभावपूर्वक सत्य बोलने का परिणाम एवं सत्य बोलना तथा स्थूल व सूक्ष्म-किसी भी प्रकार झूठ नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।

३ : उपर्युक्त मिथ्यात्व व कषायों के अभावपूर्वक स्थूल व सूक्ष्म-किसी भी प्रकार की चोरी का परिणाम एवं चोरी की क्रियारूप परिणत नहीं होना अचौर्य महाव्रत है। इस महाव्रत के धारक मुनिराज द्वारा बिना दिए अन्य वस्तु का ग्रहण करना तो बहुत दूर की बात है, जल और मिट्टी भी वे बिना दिये ग्रहण नहीं करते।

४ : प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में होनेवाली आत्मरमणतापूर्वक स्वस्त्री व परस्त्री आदि के सेवन का मन-वचन-काय से सम्पूर्णतः त्याग होना ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५ : साधु परमेष्ठी के पास संयम का उपकरण पिच्छी, शुद्धि का उपकरण कमण्डल एवं ज्ञान का उपकरण शास्त्र छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार के वस्त्रादि परिग्रह नहीं होते हैं।

इस संदर्भ में कविवर दौलतरामजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

"षट्काय जीवन न हनन तैं, सब विध दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवारतें, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयो गहैं।
अठदश सहस विध शील धर, चिद् ब्रह्म में नित रमि रहैं॥
अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं।[1]

इसप्रकार साधु परमेष्ठी के ये पाँच महाव्रत रूप पाँच मूलगुण होते हैं।

पाँच समिति :- **ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान।**
प्रतिष्ठापना युत क्रिया, पाँचों समिति विधान॥

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति एवं प्रतिष्ठापना समिति - ये पाँच समिति हैं। ये पाँचों समिति मुख्यतः अहिंसा एवं सत्य महाव्रत की साधनभूत ही हैं।

"मुनियों के (संज्वलन कषाय सम्बन्धी) किंचित् राग होने से गमनादि क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव से प्रमाद रूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिए स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार सच्ची समिति है।"[2]

पाँचों समितियों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

१. अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव हो जाने से मुनिराज जब भी आहार-विहार-निहार तथा देवदर्शन, तीर्थवन्दना आदि प्रशस्त प्रयोजन से गमन करते हैं तो प्रमाद छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन देखकर, दिन में, प्रासुकमार्ग से ही गमन करते हैं। उनकी इस क्रिया को ईर्यासमिति कहते हैं।

२. इसीप्रकार उपर्युक्त कषायों का अभाव हो जाने से मुनिराज दूसरों को पीड़ाकारक-कर्कष-निन्द्य वचन कभी नहीं बोलते। जब भी बोलते हैं तो हित-मित-प्रिय और संशयरहित, मिथ्यात्वरूपी रोग का विनाश करने वाले वचन ही बोलते हैं। उनकी इसप्रकार की वाचिक क्रिया को भाषासमिति कहते हैं।

---

१. छहढाला; छठवीं ढाल, छन्द १ व २ २. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२८

३. ध्यान, अध्ययन व तप में बाधा उत्पन्न करनेवाली क्षुधा-तृषा के लगने पर तपश्चरणादि की वृद्धि के लिए मुनिराज ४६ दोषों से रहित, ३२ अन्तराय और १४ मलदोष टालकर कुलीन श्रावक के घर दिन में खड़े-खड़े एक बार जो अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करते हैं, उसे एषणासमिति कहते हैं।

४. मुनिराज अपने शुद्धि, संयम और ज्ञानसाधन के उपकरण कमण्डलु, पिच्छी और शास्त्र को सावधानीपूर्वक इसतरह देखभाल कर उठाते-रखते हैं कि जिससे किसी भी जीव को किंचित् भी बाधा उत्पन्न नहीं होती। मुनि की इस प्रमाद-रहित क्रिया को आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं।

५. साधु ऐसे स्थान पर मल-मूत्र एवं कफादि क्षेपण करते हैं, जो निर्जन्तुक हो, अचित्त हो, एकांत हो, नगर से दूर निर्जन हो, पर के अवरोध से रहित हो तथा जहाँ बिल व छिद्र न हों। उनकी यह क्रिया प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।

इस संदर्भ में कविवर दौलतरामजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचंद तैं अमृत झरैं॥
छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं धर अशन को;
ले तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते तजि रसन को।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;
निर्जन्तु थान विलोकि, तन-मल-मूत्र-श्लेषम परिहरैं॥[1]

पंचेन्द्रियजय :- **रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ-असुहावने।**
तिनमें न राग-विरोध पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥[2]

स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय के इष्टानिष्ट विषयों में राग-द्वेष रहित हो जाना पंचेन्द्रियजय या पंचेन्द्रिय निरोध कहा जाता है।

---

१. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द २ व ३
२. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ४

मुनिराज अपनी रुचि के अनुकूल – सुहावने लगनेवाले स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्णेन्द्रिय के विषयों में अनुराग नहीं करते, हर्षित नहीं होते । तथा प्रतिकूल – असुहावने लगनेवाले इन्द्रिय विषयों से द्वेष-घृणा या असंतोष प्रगट नहीं करते; बल्कि दोनों परिस्थितियों में एक सा साम्यभाव रखते हैं। इन्द्रिय विषयों से संबंधित उनके इस समताभाव को पंचेन्द्रियजय मूलगुण कहा जाता है।

षट् आवश्यक :– समता सम्हारैं, थुति उचारैं वन्दना जिनदेव को।
नित करैं श्रुति रति, करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को॥[१]

वीतरागी मुनिराज सदा त्रिकाल सामायिक, स्तुति, वंदना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते हैं। उनकी ये क्रियायें प्रतिदिन अवश्य करने योग्य हैं, अत: आवश्यक कहलाती हैं; किन्तु मुनिराज इन्हें स्ववश होकर करते हैं । उन्हें ये खेंच कर नहीं करनी पड़ती। मूलाचार ग्रंथ में मुनि के षट् आवश्यकों का संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है :-

(१) परद्रव्यों से राग-द्वेष रहित होकर साम्यभाव रखना सामायिक है।

(२) ऋषभ , अजित आदि चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर के अथवा सबके गुणों की स्तुति करना एवं मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक उनको नमस्कार करना स्तवन है।[२]

(३) अरहंत और सिद्धों के प्रतिबिम्बों के दर्शन-पूजन एवं श्रुतधर व तप में विशेष गुरुओं का मन-वचन व काय से स्तुतिपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।[३]

---

१. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ५

२. ऋषभादिजिनवराणां नामनिरुक्तिं गुणानुकीर्तिं च।
कृत्वा अर्चयित्वा च त्रिशुद्धिप्रणामः स्तवो ज्ञेयः॥२६॥

३. अर्हत्सिद्धप्रतिमातपः श्रुतगुणगुरूगुरूणां रात्र्यधिकानां।
कृतिकर्मणा इतरेण च त्रिकरणसंकोचनं प्रमाणः ॥२७॥

–मूलाधार, पृष्ठ १६-१७

(४) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आश्रय से अहिंसादि व्रतों में लगे हुए दोषों का निन्दा गर्हा द्वारा परित्याग (नाश) करना प्रतिक्रमण है।[१]

(५) वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेशरूप शास्त्रों का अध्ययन व आत्मचिंतन स्वाध्याय है।

(६) नित्य एवं नैमित्तिक क्रियाओं में जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण करते हुए जो शरीर के प्रति ममत्व का त्याग होता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं।[२]

स्तवन व वन्दना में अन्तर :-

यहाँ स्तवन और वंदना के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्तवन में तो ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के व्यक्तिगत नामोल्लेख पूर्वक उनके गुणों की स्तुति की जाती है तथा वंदना में अरहंत सिद्धों की प्रतिमा के माध्यम से एवं आचार्यादि के विषेश गुणों को स्मरण करते हुए नमस्कार किया जाता है। एक में व्यक्ति विशेष की मुख्यता है और दूसरे में किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, बल्कि गुणों या पद-विशेष की मुख्यता से स्तुति की गई है।

५) इनके अतिरिक्त मुनि के निम्नांकित सात मूलगुण और होते हैं :-

१. स्नान का त्याग, २. दंतमंजन का त्याग, ३. भूमि पर एक करवट से रात्रि के पिछले प्रहर में अल्प निद्रा लेना, ४. वस्त्र का सर्वथा त्याग, ५. केशलुँचन करना, ६. तीन घड़ी दिन होने के बाद व तीन घड़ी दिन शेष रहने के पूर्व एक बार आहार लेना, ७. खड़े-खड़े पाणि को ही पात्र बनाकर अर्थात् हाथ की अंजुली में ही अल्प आहार लेना।

इसप्रकार सर्वसाधुओं के ये २८ मूलगुण होते हैं। मुनिराज के द्वारा इनका सहज ही निरतिचार पालन होता है।

वस्तुतः मुनिराज की सहज जीवनचर्या – दिनचर्या का ही दूसरा नाम २८ मूलगुण है। अर्थात् मुनिराज जब-जब सातवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में

---

१. द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृतापराधशोधनकैः ।
निंदनगर्हणयुक्तो मनोवचः कायेन प्रतिक्रमणं ॥२८॥

२. दैवसिकनियमादिषु यथोक्तमानेन उक्तकाले।
जिनगुणचिंतनयुक्तः कायोत्सर्गस्तनुविसर्गः॥३०॥

–मूलाधार, पृष्ठ १९

आते हैं, उस समय उनकी जो शुभभावरूप सहज बाह्य प्रवृत्ति होती है, वह सहज ही पांच महाव्रत रूप, पांच समितिरूप, पंचेन्द्रियों के विजयरूप, षट् आवश्यक तथा स्नान, दन्तधावन आदि न करने रूप ही होती है। अशुभ भाव का तो वहाँ अस्तित्व ही नहीं होता। बस इन २८ मूलगुणों का सहज भाव से निरतिचार पालन होना ही दिगम्बर जैन मुनि की बाह्य पहचान है। इसके बिना किसी को दिगम्बर जैन मुनि मानना मुनिधर्म का अवर्णवाद है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध का कारण है।

'णमो लोए सव्व साहूणं' में इन्हीं साधुओं को नमन किया गया है। जब हम 'णमो लोए सव्व साहूणं' पद बोलें तो सच्चे साधु का साकार रूप हमारे मानस पटल पर अंकित होता हुआ भासित होना चाहिए।

ऐसे मुनिधर्म के धारक आचार्य, उपाध्याय और सामान्य साधु मुख्यरूप से तो आत्मस्वरूप को ही साधते हैं तथा बाह्य में २८ मूल-गुणों को अखण्डित पालते हैं समस्त आरंभ और अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं, सदा ज्ञान-ध्यान में लवलीन रहते हैं, सांसारिक प्रपंचों से सदा दूर रहते हैं। आचार्य व उपाध्याय तो मुनिसंघ की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासनिक एवं शैक्षणिक पद हैं। जो साधु अपने मूल प्रयोजन को साधते हुए इसके योग्य होते हैं, उन्हें ये पद प्राप्त होते हैं। अन्त में समाधि के हेतु आचार्य, उपाध्याय भी अपने योग्य शिष्यों को अपना पद सौंपकर, स्वयं उन पदों से निवृत होकर निजस्वभाव की साधना में लग जाते हैं।

ऐसे साधु परमेष्ठी को ही 'णमो लाए सव्व साहूणं' में स्मरण व नमन किया गया है, अन्य किसी को नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि णमोकार मंत्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है और उनका स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है। वीतराग-विज्ञानमय पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप को समझकर उनका स्मरण करते हुए णमोकार मंत्र का पाठ करना ही णमोकार मंत्र का स्मरण है और इसप्रकार के स्मरण से जीव पापभावों एवं पाप कर्मों से बचा रहता है।

सामान्य साधु का स्वरूप

सामान्य रूप से देखा जाय तो मूलतः तो आचार्य, उपाध्याय भी साधु ही हैं। यही कारण है कि चत्तारि मंगल आदि पाठ में आचार्य एवं उपाध्याय का पृथक् से उल्लेख नहीं किया गया है। उन्हें 'साहू' शब्द में ही गर्भित कर लिया गया है। मूल पाठ इसप्रकार है :-

'अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलीपणत्तो धम्मो मंगलं।' ।

अतः जिनमें आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु-सभी गर्भित हैं, ऐसे साधु के सामान्य स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है।

"दंसणणाण समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥[१]

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्गस्वरूप, रागादि रहित शुद्ध चारित्र को सदैव साधते हैं, वे मुनि साधु हैं। उन्हें हमारा नमस्कार हो।"

पण्डित टोडरमलजी के अनुसार सामान्य साधु का स्वरूप इसप्रकार है -

"जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार करके - अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य मे अहंबुद्धि धारण नहीं करते, तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं; परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते। शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुख नहीं मानते; तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है वैसे बनती है, खींचकर उनको

१. वृहद द्रव्य संग्रह गाथा ३

नहीं करते; तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं, तथा कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है - उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं, उनमें अनुराग करते है; परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है । तथा ऐसी अंतरंग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर का संवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वन खण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादि बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं, कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं। - ऐसे जैन मुनि हैं, उन सबकी ऐसी अवस्था होती है।"[१]

उनके समताभाव और उससे प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द का चित्रण पण्डित दौलतरामजी ने इसप्रकार किया है -

"अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काँच निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन॥
यो चिंत्य निज में थिर भये तिन अकथ जो आनद लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कै नांही कह्यो॥"[२]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अरहंत व सिद्ध के समान साधु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। साधु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है; क्योंकि साधु तो चलते-फिरते सिद्ध हैं।

कहा भी है -

**"चलते फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं॥"[३]**

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३ २. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६ व ११
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल रचित देव-शास्त्र-गुरु पूजा की जयमाला

और भी देखिये, गुरु के स्वरूप का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है :-

"हे गुरुवर ! शाश्वत सुख दर्शक, यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्श कराने वाला है॥

जब जग विषयों में रच-पच कर गाफिल निद्रा में सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कटंक पथ में विषकंटक बोता हो॥
हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा बन में वनचारी चरते हों।
तब शान्त निराकुल मानस तुम तत्वों का चिन्तन करते हो॥
करते तप शैल नदी तट पर तरु तल वर्षा की झड़ियों में ।
समता रसपान किया करते सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में॥ "[1]

इसप्रकार साधु हमारे पावन प्रेरणास्त्रोत हैं, जीवन्ततीर्थ हैं एवं मुक्तिमार्गप्रदर्शक है।

साधु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यदि उनके स्वरूप को भलीभाँति न समझ पाया और किसी अज्ञानी को गुरु मान लिया तो भटक जाने की संभावना बढ़ जाती है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अष्टपाहुड़ में साधु के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं :-

"दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता॥६७॥
णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं॥६८॥

* * *

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए॥७३॥[2]

---

१. श्री जुगलकिशोर 'युगल' रचित देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला
२. अष्टपाहुड़, भावपाहुड़, गाथा ६७, ६८, ७३

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न होते देखे जाते हैं तो भी वे सब परिणामों से अशुद्ध हैं, अतः भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते।

जिन भावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित नग्न श्रमण सदा दुःख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है और वह बोधि अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को चिरकाल तक नहीं पाता।

पहिले मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग नग्न हो, पश्चात् बाह्य में द्रव्यलिंग प्रगट करे – यह जिनाज्ञा है।"

साधु हमारे परमपूज्य पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं, जिनको हम प्रतिदिन णमोकार मंत्र के रूप में प्रातः सायं स्मरण करते हैं, उनके नाम की माला जपते हैं, नमस्कार करते हैं; उनके सम्बन्ध में की गई किसी भी प्रकार की असावधानी या उपेक्षा सन्मार्ग से भटक जाने का प्रबल कारण बन सकती है। अतः इस सम्बन्ध में विशेष सावधानी व सतर्कता बरतने की आवश्यकता है।

इस सम्बन्ध में डॉ. भारिल्ल का निम्नांकित कथन बहुत ही गम्भीरता से विचारणीय है :

"उन रत्नत्रय के धनी परम वीतरागी नग्न दिगम्बर भावलिंगी संतों के प्रति यदि हमारे हृदय में रंचमात्र भी अवज्ञा का भाव रहा तो हम मुक्तिमार्ग से बहुत दूर रहेंगे तथा साथ ही जिनागम में वर्णित गुरु के स्वरूप के अनुरूप जो श्रद्धान-ज्ञान और चारित्र के धारक नहीं हैं, यदि हमने उन्हें भय-आशा-स्नेह और लोभादिक के कारण गुरु के समान पूज्य माना तब भी हम मुक्तिमार्ग के समीप नहीं आ सकेंगे।"[१]

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी यही कहा है :-

"जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोहि, पावं अणुमोयमाणाणं ॥

१. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२६

जो व्यक्ति उन सम्यग्दर्शन रहित साधुओं को जानते हुए भी लज्जा, गौरव, बड़प्पन और भय के कारण नमस्कारादि करते हैं, उन्हें पूजते हैं, पाप की अनुमोदना करनेवाला होने के कारण वे भी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।''[१]

नित्य निजात्मा में रमनेवाले, शत्रु-मित्रों में समता धारण करनेवाले, सम्यग्ज्ञानी वीतरागी भावलिंगी मुनिवरों को बारम्बार नमस्कार करते हुए महाकवि भूधरदासजी के स्वर में स्वर मिलाकर हम भी भावना भाते हैं कि-

वे मुनिवर कब मिलिहैं उपगारी ।
साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी ॥ वे.॥ १॥

कंचन-काँच बराबर जिनकै, ज्यों रिपु त्यों हितकारी ।
महल-मसान मरन अरू जीवन, सम गरिमा अरु गारी ॥ वे.॥ २॥

सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी ।
शोधत जीव सुवर्ण सदा जे, काय कारिमा टारी ॥ वे.॥ ३॥

जोरि जुगल कर 'भूधर' बिनवै, तिनपद ढोक हमारी ।
भाग उदय दरसन जब पाऊं, ता दिन की बलिहारी ॥ वे.॥ ४॥ ❑

जो परमातम सो ही मैं

जिन सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध ।
लहो परम पद क्षणिक में, होकर के प्रतिबुद्ध ॥

जिनवर अरु शुद्धत्म में, किंचित् भेद न जान ।
मोक्ष अर्थ हे योगिजन ! निश्चय से यह मान ॥

जो जिन सो आतम लखो, निश्चय भेद न रञ्च ।
यही सार सिद्धान्त का, छोड़ो सर्व प्रपञ्च ॥

जो परमातम सो ही मैं, मैं जो वही परमात्म ।
ऐसा जान जु योगीजन, करिए कछु न विकल्प ॥

– योगसार (पद्यानुवाद)

१. अष्ट पाहुड़ : दर्शन पाहुड़, गाथा १३

निर्ग्रन्थ मुनि नग्न ही क्यों होते हैं ?

जैनदर्शन की दार्शनिक व्याख्या अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण से यदि निर्ग्रन्थ साधु की निर्ग्रंथता पर विचार किया जाय तो उनकी निर्मल परणति में छठवें-सातवें गुणस्थान की ऐसी सर्वोच्च भूमिका होती है, जिसमें अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का अभाव हो जाता है; इसकारण निर्ग्रन्थ मुनिराजों को इस भूमिका में वस्त्र धारण करने का भाव ही नहीं आता। अतः वे नग्न रहते हैं।

सम्पूर्ण कामवासना व विषयविकार पर विजय प्राप्त हो जाने से अथवा पूर्ण निर्विकारी हो जाने से उनकी नग्नता सहज व स्वाभाविक है।

यदि कोई बलात् उनके ऊपर वस्त्र डाल दे या पहना दे तो वे उसे उपसर्ग (आपतित संकट) मानकर उस उपसर्ग के दूर न होने तक भोजन-पानी एवं गमनागमन का भी त्याग कर देते हैं।

लज्जा-गारव, शीत-उष्ण, डांस-मच्छर आदि के समस्त परिषहों को जीत लेने से निर्ग्रन्थ साधु को वस्त्र धारण करने का भाव नहीं होता, विकल्प ही नहीं आता; अतः निर्ग्रन्थ मुनि नग्न रहते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पूर्ण स्वाधीन और स्वावलम्बी होते हैं, पराधीनता और परावलम्बन उनके स्वभाव में ही नहीं होता। अतः संयम का उपकरण पिछी, शुद्धि का उपकरण कमण्डल तथा ज्ञान का उपकरण शास्त्र के सिवा उन्हें कुछ भी स्वीकृत नहीं होता है।

दिशायें ही जिनके अम्बर (वस्त्र) होते हैं, जिन्हें देह पर वस्त्र धारण करने का राग (भाव) नहीं रहता, उन्हें दिगम्बर जैनसाधु कहते हैं।

नन्हें-मुन्ने दो-तीन वर्षीय निर्विकारी बालकवत् निर्ग्रन्थ साधुओं को वस्त्र धारण करने का विकल्प नहीं आता, आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती।

जिसतरह काम-वासना से रहित बालक माँ-बहिन के समक्ष लजाता नहीं है, संकोच भी नहीं करता तथा माँ-बहिनों को भी उसे नग्न देखने से, गोद में लेने से, लज्जा नहीं आती; ठीक उसीतरह निर्विकारी निर्ग्रन्थ मुनिराजों को भी लज्जा नहीं आती। उनके दर्शन करने में उनके भक्त नर-नारियों को भी संकोच नहीं होता।

इसतरह जब उनके आत्मा में कोई कषाय या मनोविकार की ग्रन्थि ही नहीं रही तो तन पर वस्त्र की गांठ कैसे रह सकती है? अतः वे नग्न होते हैं।

लौकिक दृष्टि से भी दि. जैन मुनियों को सामाजिक सीमाओं के घेरे में नहीं घेरा जा सकता; क्योंकि वे लोकव्यवहार से ऊपर उठ चुके हैं, व्यवहारातीत हो गये हैं। वे तो वनवासी सिंह की भाँति पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी और अत्यन्त निर्भय होते हैं। इसकारण वे मुख्यतया वनवासी ही होते हैं।

दिगम्बर जैनसाधुओं की निर्ग्रन्थता, निर्दोषता, निर्विकारिता, निर्पेक्षता, निर्भयता, निश्चिंतता की परिचायक है।

दिगम्बरत्व की स्वाभाविकता, सहजता और निर्विकारिता के साथ उसकी अनिवार्यता से अपरिचित कतिपय महानुभावों को मुनिराज की नग्नता में जो असभ्यता व असामाजिकता दृष्टिगोचर होती है, वह उनके स्वयं के दृष्टिकोण का फेर है। ऐसे लोग समय-समय पर नग्नता जैसे सर्वोत्कृष्ट रूप से नाक-भौं भी सिकोड़ते रहते हैं, घृणा का भाव भी व्यक्त करते रहते हैं। उन्हें एकबार नग्नता को निर्विकारी दृष्टि से देखना चाहिए।

अन्य दर्शनों में भी नग्नता को ही साधु का उत्कृष्ट रूप माना गया है। परमहंस नामक परमत के साधु भी नग्न रहते हैं – ऐसा उनके ही पुराणों में उल्लेख है।

हाँ, निर्विकारी हुए बिना नग्नता निश्चित ही निन्दनीय है। नग्नता के साथ निर्विकार होना अनिवार्य है। केवल तन से नग्न होने का नाम दिगम्बरत्व नहीं

है। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारी भावों से मन (आत्मा) की नग्नता के साथ तन की नग्नता ही सच्चा दिगम्बरत्व है। इस नग्नता को कभी भी लज्जाजनक, अशिष्ट एवं अश्लील नहीं कहा जा सकता। ऐसी नग्नता तो परम पूज्य है, आदर्श है; अतः अनुकरणीय है।

हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध ऋषि शुक्राचार्य के कथानक से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि तन की नग्नता के साथ मन का निर्विकारी होना कितना आवश्यक है; अन्यथा जो नग्नता पूज्य है वही निन्दनीय भी हो जाती है।

कहा जाता है कि शुक्राचार्य युवा थे, पर शिशुवत् निर्विकारी थे अतः सहज भाव से नग्न रहते थे। एक दिन वे उस तालाब के किनारे से जा रहे थे, जहाँ देवकन्यायें निर्वस्त्र होकर स्नान व जलक्रीड़ा कर रही थीं। वे शुक्राचार्य को देखकर भी वैसी ही स्नान करती रहीं, जरा भी नहीं लजाईं। देवकन्यायें व शुक्राचार्य-दोनों ही एक-दूसरे की नग्नता से जरा भी प्रभावित नहीं हुए।

थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के वयोवृद्ध पिता वहाँ से निकले। उन्हें देखते ही सभी देव कन्यायें लजा गईं। न केवल लजाईं, क्षुब्ध भी हो गईं। जल क्रीड़ा को जलान्जलि देकर भागीं और सबने अपने-अपने वस्त्र पहन लिए।

देखो! वे देव कन्यायें युवक को नग्न देख तो लजाई नहीं और एक वृद्ध व्यक्ति को देख लजा गईं। जरा सोचिए! इसका क्या कारण हो सकता है? बस यही न कि - तन से नंगा युवक मन से भी नंगा था, निर्विकारी था। और उसके पिता अभी मन से पूर्ण निर्विकारी नहीं हो सके थे। - यह बात नारियों की निगाह से छिपी नहीं रही, रह भी नहीं सकती थी। कोई कितना भी क्यों न छिपाये, पर मन का विकार तो सिर पर चढ़कर बोलता है। कहा भी है -

"मुखाकृति कह देत है, मैले मन की बात"

नग्नता से नफरत करने का अर्थ है कि हमें अपना निर्विकारी होना पसंद नहीं है।

पर ध्यान रहे, तन की नग्नता के साथ मन की नग्नता होनी ही चाहिए, अन्यथा कोई लाभ नहीं होगा। नग्नता कलंकित ही होगी। इसीलिए तो कहा है – **"सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित लीजे।"**

बिना आत्मज्ञान के भी कभी-कभी व्यक्ति मुनिव्रत अंगीकार कर लेता है, पर उससे कोई लाभ नहीं होता। कुन्दकुन्ददेव भावपाहुड़ में स्वयं लिखते हैं–

"णग्गो पावइ दुःखं, णग्गो संसार सायरे भमई।
णग्गो न लहहि बोहिं जिण भावणं वज्जिओ सुइरं ॥"

जिन भावना से रहित केवल तन नग्न व्यक्ति दुःख पाता है, वह संसार-सागर में ही गोते खाता है, उसे बोध की प्राप्ति नहीं होती, अतः तन से नग्न होने के पहले मन से नग्न अर्थात् निर्विकारी होना आवश्यक है।

जिनागम के सिवाय अन्य जैनेतर शास्त्रों एवं पुराणों में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख मिलते हैं –

रामायण के सर्ग १४ के २२वें श्लोक में राजा दशरथ निर्ग्रन्थ श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं। भूषण टीका में श्रमण का अर्थ दिगम्बरमुनि किया है।

श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण में ऋषभदेव का दिगम्बर मुनि के रूप में ही उल्लेख है। वायुपुराण एवं स्कन्ध पुराण में भी दिगम्बरमुनि का अस्तित्व दर्शाया गया है।

ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि "आदम और हव्वा" नग्न रहते हुए कभी नहीं लजाये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इतिहास एवं इतिहासातीत श्रमण एवं वैष्णव साहित्य में यहाँ तक कहा गया है कि दिगम्बर हुए बिना मोक्ष की साधना एवं केवल्यप्राप्ति संभव नहीं है। अतः नग्नता से नफरत करना, घृणा करना अपने ही धर्म, संस्कृति, पुरातत्व एवं सत्य से घृणा करना है। □

'णमो लोए सब्ब साहूणं' में वीतरागी जैनसंत ही आते हैं

कुछ लोक कहते हैं कि णमोकार महामंत्र में बड़ी उदारता से लोक के सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है। उदारता की व्याख्या करते हुए वे यह कहने से भी नहीं चूकते हैं कि जैनसाधु और जैनेतर साधुओं को इसमें बिना भेदभाव किये समान रूप से नमस्कार किया गया है।

क्या 'णमो लोए सब्ब साहूणं' का सचमुच यही भाव है? या फिर जैनेतरों को प्रसन्न करने के लिए यह कह दिया जाता है?

यद्यपि यह बात सत्य है कि इसमें किसी साधु विशेष का नाम नहीं लिया गया है, किसी धर्म का भी नाम नहीं लिया गया है; तथापि इसमें वे ही साधु गण आते हैं, जो पंच परमेष्ठी में शामिल हैं, अट्ठाईस मूलगुणों के धारी हैं; जो जैन परिभाषा के अनुसार छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलने वाले हैं या उससे भी ऊपर हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि – 'णमो लोए सब्ब साहूणं' में वीतरागी भावलिंगी जैन संत ही आते हैं; क्योंकि जैन परिभाषा के अनुसार वे ही लोक के सर्वसाधु हैं, अन्य नहीं। – **आत्मा ही है शरण : डॉ. भारिल्ल**

चत्तारि मंगलं (चार मंगल)

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णतो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि शरणं पव्वज्जामि, अरहंते शरणं पव्वज्जामि, सिद्धे शरणं पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि, केवलिपणत्तं धम्मं शरणं पव्वज्जामि।

लोक में चार मंगल हैं। अरहंत भगवान मंगल हैं, सिद्ध भगवान मंगल हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु) मंगल हैं तथा केवली भगवान द्वारा बताया गया धर्म मंगल है।

जो मोह-राग-द्वेषरूपी पापों को गलावे और सच्चा सुख उत्पन्न करे, उसे मंगल कहते हैं। अरहंतादिक स्वयं मंगलमय हैं और उनमें भक्तिभाव होने से परम मंगल होता है।

लोक में चार उत्तम हैं। अरहंत भगवान उत्तम हैं, सिद्ध भगवान उत्तम हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु) उत्तम हैं तथा केवली भगवान द्वारा बताया हुआ धर्म उत्तम है।

लोक में जो सबसे महान हो, उसे उत्तम कहते हैं। लोक में ये चारों सबसे महान् हैं अत: उत्तम हैं।

मैं चारों की शरण में जाता हूँ। अरहंत भगवान की शरण में जाता हूँ, सिद्धभगवान की शरण में जाता हूँ, साधुओं (आचार्य, उपाध्याय और साधु) की शरण में जाता हूँ और केवली भगवान द्वारा बताये गये वीतराग धर्म की शरण में जाता हूँ।

शरण सहारे को कहते हैं। परमेष्ठी द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलकर अपने आत्मा की शरण लेना ही पंचपरमेष्ठी की शरण है।

जो व्यक्ति पंच परमेष्ठी की शरण लेता है, उनका कल्याण होता है, उसका दु:ख (भव-भ्रमण) मिट जाता है।

प्रत्यक्ष जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन करते समय और परोक्ष त्रिकाल वंदना-सामायिक आदि करते समय तथा शाम-सुबह सोते-जागते जब भी णमोकार मंत्र बोला जाता है, उस समय उसके साथ उपर्युक्त 'चत्तारि मगलं' पाठ भी बोला जाता है। इस पाठ में पांचों परमेष्ठियों और उनके द्वारा प्रणीत वीतराग धर्म को मंगल, उत्तम एवं शरण कहा गया है।

मंगल

'मंगल' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यकल्प पण्डित टोडलमलजी लिखते हैं -

" 'मंग' अर्थात् सुख, उसे 'लाति' अर्थात् देवे, अथवा 'मं' अर्थात् पाप, 'गालयति' अर्थात् गाले - दूर करे, उसका नाम मंगल है। इसप्रकार अरहंतादिक द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से दोनों कार्यों की सिद्धि होती है, इसलिए उनके परम मंगलपना संभव है।[१]"

लोक में श्रीफल, स्वस्तिक, कलश, कुंकुम, अक्षत, हल्दी, मेंहदी एवं मंगलसूत्र आदि को मांगलिक या मंगलमय माना जाता है, सौभाग्य का प्रतीक समझा जाता है; किन्तु ये वास्तविक मांगलिक या मंगलमय नहीं हैं; क्योंकि एक तो ये स्वयं सुखमय नहीं हैं, दूसरे ये सुख के कारण भी नहीं हैं; क्योंकि इन सबसे सद्भाव में भी अमंगल या दु:ख होते देखा जाता है।

मंगलसूत्र गले में पड़ा रहता है और पतिदेव परलोक सिधार जाते हैं, यह कैसा मंगलसूत्र है जो स्वयं अमंगलरूप वैधव्य को देखकर सदा के लिए विदा ले लेता है। जो स्वयं मंगलमय नहीं हैं तथा अमंगल से बचा नहीं सकते, वे मंगलकारी कैसे हो सकते हैं? तात्पर्य यह है कि लोक में ये मंगल के प्रतीक भले ही हों; पर मंगलमय नहीं हैं, मंगलकरण भी नहीं हैं।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ८

यहां कोई कह सकता है कि – यह तो ठीक है, किन्तु लोकव्यवहार भी तो देखना पड़ता है। जब सारा लोग इन्हें मांगलिक मानता है तो हम इन्हें मंगल क्यों न मानें?

समाधान यह है कि – वस्तुस्वरूप की सही समझपूर्वक लोकव्यवहार का निर्वाह करना कोई दोष नहीं है, किन्तु सर्वथा मंगलमय मान लेना व अन्धविश्वासपूर्वक धर्म की क्रिया मानकर स्वीकार करना भी ठीक नहीं है। तथा उपर्युक्त 'चार मंगल' भी तो व्यवहार ही हैं। निश्चय से तो एक अपना आत्मा ही मंगलमय, मंगलस्वरूप और मंगलकारी है।

अतः जिसे अपने जीवन को मंगलमय (सुखी) बनाना हो, उन्हें 'चत्तारिमंगलं' के प्रतिपाद्य अरहंतादि का आलम्बन लेकर अपने मंगलमय आत्मतत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तम

जो लोक में सबसे महान हो, उसे उत्तम कहते हैं। लोक में अरहंत, सिद्ध साधु, व धर्म ही सबसे महान हैं, अतः ये ही उत्तम हैं।

जयसेनाचार्य ने 'महात्मा' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है –

'मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा' अर्थात् मोक्ष लक्षणवाले महाप्रयोजन को साधने के कारण ही अरहंत, सिद्ध और साधु सच्चे अर्थ में महान आत्मा हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सांसारिक दुःख से छूटने और अतीन्द्रिय आनन्दरूप मोक्षसुख के प्रयोजन को साधने में प्रयत्नशील साधु और प्रयोजन को साधकर पूर्णता प्राप्त करनेवाले अरहंत व सिद्ध भगवान तथा इस प्रयोजन की सिद्धि जिस धर्म के माध्यम से होती है, वह वीतराग धर्म ही लोक में महान है। इनके अतिरिक्त जो अन्य को महान कहने का लोकव्यवहार है, वह भी लौकिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु लौकिक महानता या लोक व्यवहार के व्यामोह में वास्तविक महानता लुप्त या विस्मृत न हो जाय, एतदर्थ प्रतिदिन 'चत्तारि लोगुत्तमा' पाठ का स्मरण करना अति आवश्यक है, अनिवार्य है।

शरण

"चत्तारि शरणं पव्वज्जामि" कहने का अस्तिपरक अर्थ तो यह है कि - मैं अरहंत, सिद्ध एवं साधु (आचार्य-उपाध्याय-साधु) की शरण में जाता हूँ, किन्तु इसमें से एक नास्तिपरक ध्वनि यह भी निकलती है कि - जिसे सुखी होना हो वह इन चारों के सिवाय अन्य किसी की शरण खोजने में अपनी शक्ति व समय को बरबाद न करे; क्योंकि इस लोक में इनके सिवाय अन्य कोई शरण नहीं हैं। अशरण भावना के माध्यम से हमें आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आज तक के प्राय: सभी आचार्य व विद्वान आगाह करते आ रहे हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं -

"सग्गो हवे हि दुग्गं, भिच्चा देवाय पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो, इंदस्स ण विज्जदे सरणं॥९॥
णवणिहि चउदहरयणं हय मत्तगइंद चाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले॥१०॥[1]

स्वर्ग जिसका किला है, देव जिसके भृत्य हैं, वज्र जिसका हथियार है, ऐरावत हाथी जिसका वाहन है - ऐसे इन्द्र को भी कोई शरण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिसके पास सुरक्षा के इतने और इसप्रकार के साधन हैं, जब उसे भी समय आने पर देह छोड़नी पड़ती है, तब सामान्यजन की तो विसात ही क्या है?

इसीप्रकार काल के आ जाने पर जब नव निधियाँ, चौदह रत्न, चंचल घोड़े और मदोन्मत्त हाथी तथा सुसज्जित चतुरंग सेना भी चक्रवर्ती को शरण नहीं दे पाते, तब साधारण जन को कौन शरण दे?"

इसी बात को कविवर भूधरदासजी ने अपनी बारह भावना में अति संक्षेप और सशक्त भाषा में व्यक्त किया है। वे कहते हैं :-

"दलबल देवी-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार॥

१. बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) गाथा ९ एवं १०

इस जीव को मरणकाल आ जाने पर सेना की शक्ति, देवी-देवता, माता-पिता और परिवारजन – कोई भी नहीं बचा सकता।''

पण्डित दौलतरामजी छहढाला की पाँचवीं ढाल में कहते हैं :-

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलें ते।
मणि-मंत्र-तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई॥

इसी बात को निम्नांकित छन्दों में और अधिक स्पष्ट किया गया है :-

''कालसिंह ने मृगचेतन को घेरा भववन में,
नहीं बचावनहारा कोई यों समझो मन में।
मंत्र-तंत्र सेना धन सम्पति राजघाट छूटै;
वश नहीं चलता काललुटेरा कायनगरी लूटे॥
चक्ररतन हलधर सा भाई काम नहीं आया,
एक तीर के लगत कृष्ण की विनश गई काया॥
देव-धर्म-गुरु शरण जगत में और नहीं कोई,
भ्रम से फिरै भटकता चेतन यों ही उमर खोई॥[१]

काल रूपी सिंह ने जीवरूपी मृग को इस संसाररूपी वन में घेर लिया है। इस जीवरूपी मृग को कालरूप शेर से बचानेवाला कोई नहीं है – यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जब कालरूपी लुटेरा कायारूप नगरी लूटता है तब किसी का वश नहीं चलता; मंत्र-तंत्र सब रखे रह जाते हैं, सेना खड़ी देखती रह जाती है और राज-पाट तथा धन-सम्पत्ति सब लुट जाती है।

देखो ! चक्ररत्न जैसा आयुध और बलदेव जैसा भाई भी काम नहीं आया और श्रीकृष्ण की काया एक तीर के लगने मात्र से नष्ट हो गई। अतः इस जगत में एक देव-गुरु एवं धर्म ही परमशरण हैं, और कोई शरण नहीं है। शरण की खोज में इस जीव ने सम्पूर्ण उम्र भ्रम से भटकते हुए व्यर्थ ही खो दी है।''

अन्त में डॉ. भारिल्ल की अत्यन्त भाववाही निम्नांकित पंक्तियाँ भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं –

१. बारहभावना : कविवर मंगतराय।

"जिन्दगी इक पल कभी कोई बढ़ा नहीं पायगा।
रस-रसायन सुत-सुभट कोई बचा नहीं पायगा॥
सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में।
जीवन-मरण अशरण-शरण कोई नहीं संसार में॥
निज आत्मा निश्चयशरण व्यवहार से परमात्मा।
जो खोजता पर की शरण वह आत्मा बहिरात्मा॥[१]

यह जीवन जबतक है तबतक ही है, इसको एक पल भी कोई बढ़ा नहीं सकता, जब मौत आ जायगी तो रस-रसायन नहीं बचा पायेंगे और न सुत (पुत्र), न सुभट अथवा न सुभटसुत ही वचा सकेंगे। व्यवहार से कुछ भी कहो, पर सत्य बात तो यही है कि जीवन-मरण अशरण हैं, संसार में कोई भी शरण नहीं है।

निश्चय से विचार करो तब तो एक अपना आत्मा ही शरण है, पर व्यवहार से पंचपरमेष्ठी को भी शरण कहा जाता है। इन्हें छोड़कर जो अन्य की शरण खोजता है, अन्य की शरण में जाता है, वह आत्मा तो नि:सं:देह बहिरात्मा है, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।"

संसारी जीव सन्मार्ग से न भटकें, उन्मार्ग में न अटकें, उन्हें सच्ची शरण प्राप्त हो, एतदर्थ इस 'चत्तारि शरणं पव्वज्जामि' महामंत्र का भी नियमित जाप करने, पाठ करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि - लोक में परममंगल, परमोत्तम एवं परमशरणभूत यदि कोई है तो वे एक मात्र पंचरमेष्ठी ही हैं। णमोकार महामंत्र में परम मंगलमय, परमोत्तम एवं परमशरणभूत इन पंचपरमेष्ठियों को ही नमस्कार किया गया है, स्मरण किया गया है। इससे यह सिद्ध ही है कि जैनियों का यह महामंत्र लौकिक उपलब्धियों के लिए नहीं है और न इसमें इसप्रकार की कोई कामना ही की गई है। यह तो परमभक्ति का सहज स्फुरण है जो कामनाओं को शमन करने वाला है, वासनाओं का दमन करने वाला है, लौकिक उपलब्धियों के त्याग की प्रेरणा देना वाला है। कामनाओं एवं वासनाओं की पूर्ति के लिए इसका उपयोग करना काग को उड़ाने के लिए बहुमूल्य रत्न को फैंकने जैसी बालचेष्टा है। ☐

१. बारहभावना : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल।

णमोकार मंत्र का माहात्म्य

अब णमोकार मंत्र के माहात्म्य को प्रदर्शित करनेवाली उस महान गाथा पर विचार किया जाता है जो हजारों वर्षों से इस महामंत्र के साथ बोली जाती रही है। वह गाथा इसप्रकार है :-

''एसो पंच णमोयारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होहि मंगलं॥

यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करनेवाला है तथा सब मंगलों में पहला (सर्वश्रेष्ठ) मंगल है।''

णमोकार मंत्र की महिमा बताने वाली इस प्रसिद्ध गाथा में दो बातें कहीं गईं हैं। एक तो यह कि – यह मंत्र सब पापों का नाश करनेवाला है और दूसरी यह कि – यह मंत्र सब मंगलों में प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) मंगल है।

पहली बात पर टीका-टिप्पणी करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि – ''यदि णमोकार मंत्र सब पापों का नाश करनेवाला है तो जो प्रतिदिन नियमित रूप से त्रिकाल णमोकार मंत्र का जाप करते हैं, पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हैं, उनको जीवन में अनेक दुख या संकट क्यों देखे जाते हैं? अथवा जो स्वयं पंचपरमेष्ठी में शामिल हैं, ऐसे पाँच पांडवों पर ऐसा भयंकर उपसर्ग क्यों हुआ? उन्हें अंगारसदृश जलते हुए लोहे के कड़े क्यों पहनाये गये?

एक नहीं ऐसे अनेक पौराणिक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होंने हृदय से पंचपरमेष्ठी की आराधना की, प्रतिदिन णमोकार मंत्र का जाप किया और स्वयं भी पंचरपरमेष्ठी के पदों पर विराजमान रहे, फिर भी अनेक प्रतिकूल प्रसंगों का सामना करना पड़ा। (१) भावलिंगी तद्भव मोक्षगामी सुकुमाल मुनि को स्यालिनी ने खाया। (२) सुकौशल मुनिराज को शेरनी ने खाया। (३) गजकुमार मुनिराज के शिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई। (४) राजा श्रेणिक के द्वारा मुनिराज के गले में मरा साँप डालने से मुनिराज

को लाखों लाल चींटियों ने काटा। (५) श्रीपाल को कुष्ट रोग ने घेरा। (६) पार्श्वनाथ भगवान को कमठकृत उपसर्ग झेलना पड़ा। (७) आदिनाथ भगवान को छह माह तक प्रतिदिन लगातार आहार की चर्या पर निकलने पर भी आहार नहीं मिला। (८) महासती सीता को दो-दो बार वनवास के दुःख उठाने पड़े। (९) राम भी १४ वर्ष तक बन-बन अकेले फिरे। (१०) प्रद्युम्नकुमार को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। (११) जीवन्धर और उनके माता-पिता रानी बिजया व सत्यन्धर को मरणान्तक कष्ट झेलने पड़े। (१२) महासती मनोरमा को मजदूरी करनी पड़ी। (१३) सुदर्शन सेठ को सूली पर चढ़ना पड़ा। (१४) सैकड़ों मुनियों को घानी में पिलना पड़ा। (१५) अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनियों को बलि आदि मंत्रियों-कृत उपसर्ग झेलने पड़े। आखिर ऐसा क्यों हुआ?

ज्ञातव्य है कि ये सब पंच नमस्कार मंत्र के आराधक तो थे ही, इनमें अधिकांश तद्भव मोक्षगामी और भावलिंगी संत भी थे। आदिनाथ व पार्श्वनाथ तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान की पूर्व भूमिका में स्थित थे, फिर भी उन पर उपसर्ग हुए। आखिर ऐसा क्यों हुआ?"

क्या इन सब उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में णमोकार मंत्र की महिमा वाचक इस कथन पर प्रश्नचिह्न नहीं लगता?

ऐसी टीका-टिप्पणी करनेवालों को णमोकार मंत्र के महिमा वाचक प्रस्तुत कथन पर गहराई से विचार करना चाहिए। क्या इसमें यह कहा गया है कि - "णमोकार मंत्र के पढ़ने से संयोग में फेराफेरी होती है? प्रतिकूल प्रसंगों का अभाव होता है? लौकिक सुख-सुविधाएँ मिल जाती हैं? शेर-साँप-सियार भाग जाते हैं? विरोधी अपना वैरभाव भूल जाते हैं?" ऐसा तो कुछ भी नहीं कहा गया है, बल्कि यह कहा है कि सब पापों का नाश हो जाता है। सो क्या णमोकार मंत्र का जाप, स्मरण या ध्यान करते हुए किसी के मन में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि के पाप परिणाम रह सकते हैं? क्या उस समय उनके मन में तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ, मोह-राग-द्वेष के भाव रह सकते हैं?

पाप तो हिंसादि ही हैं न? तथा पापभाव क्रोधादि हैं। इन सबकी उग्रता का अभाव ही सर्वपापों का नाश है।

णमोकार मंत्र के पाठ के काल में न तो मन में हिंसादि पाप परिणाम रहते हैं, न वाणी से व्यक्त ही होते हैं और न काया से भी हिंसादि पाप होते हैं। अतः णमोकार मंत्र से मन-वचन-कायकृत सभी पापों का नाश (अभाव) हो जाता है - यह कथन पूर्णतः सत्य ही है।

सोलहकारण भावना की पूजा में भी यही भाव व्यक्त किया है -

"जो अरहंत भगति मन आनै, सो जन विषय-कषाय न जानै॥

जिसके हृदय में अरहंत भगवान की भक्ति बसती है, उसके हृदय में विषय-कषाय की उत्पत्ति ही नहीं होती।"

ध्यान देने योग्य बात है यह कि छद्मस्थ (क्षयोपशम ज्ञानियों) का उपयोग या ध्यान एक समय में एक विषय पर ही रहता है, इस कारण जबतक उसका ध्यान णमोकार मंत्र पर रहेगा, तबतक अन्य पापभावों की उत्पत्ति ही नहीं होगी। यही सब पापों के नाश का स्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि - जो व्यक्ति णमोकार मंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठी का स्वरूप भली-भाँति जानकर उनका स्मरण करता है, भक्ति करता है, बहुमान करता है, वह उनके द्वारा बताये गये मुक्ति के मार्ग पर भी अवश्य चलेगा। जब वह उनके बताये मुक्ति के मार्ग पर स्वयं चलेगा तो स्वयं भी पंचपरमेष्ठी पद में शामिल हो जावेगा। ऐसी स्थिति में वह पूर्वकृत पापों से बँधे कर्मों की निर्जरा भी करेगा। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर णमोकार मंत्र के जाप को सर्वपापों का नाश करने वाला कहा गया है।

यहाँ कोई कह सकता है कि - यदि णमोकार मंत्र का साक्षात् लाभ वर्तमान पापभावों एवं पापों से बचना ही है तो वर्तमान पापों से एवं पापभावों से तो हम किसी अन्य के स्मरण से भी बच सकते हैं न? इसमें णमोकार मंत्र की ही क्या विशेषता रही?

समाधान :- उनका यह सोचना सही नहीं है; क्योंकि रागियों के चिन्तन-स्मरण से रागभावों की महिमा ही उनकी दृष्टि में रहती है, वीतरागता की नहीं। वीतरागता की महिमा आये बिना लौकिक कामनाओं का अभाव नहीं होता, अपितु कामनाओं की पूर्ति की कामना ही जागृत होती है, जो स्वयं पापभाव है, पाप का कारण है।

पंचपरमेष्ठी की महानता तो वीतरागता की वृद्धि में है। इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य हैं :-

"पूज्यत्व का कारण एक वीतराग-विज्ञान है। ये अरहंतादि वीतराग-विज्ञानमय होने से ही स्तुतियोग्य महान हुए हैं, क्योंकि रागादि विकार व ज्ञान की हीनता से तो निन्दायोग्य होते हैं और रागादि की हीनता व ज्ञान की विशेषता से स्तुति व प्रशंसा योग्य होते हैं। अरहंत-सिद्ध में तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता व ज्ञान की विशेषता होने से पूर्ण वीतराग-विज्ञानभाव संभव है और आचार्य, उपाध्याय व साधु के एकदेश वीतराग-विज्ञानभाव है, इसलिए उनको स्तुति योग्य जानना।[1]"

नित्यनियम पूजा की पीठिका में हम प्रतिदिन पढ़ते हैं :-

"अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपिवा।
ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

× × ×

अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः॥

चाहे बाह्य में अपवित्र हो या पवित्र, सुस्थित हो या दुःस्थित, किसी भी हालत में क्यों न हो, जो नमस्कार मंत्र का ध्यान करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और अंतरंग से एवं बहिरंग से सभी प्रकार से पवित्र हो जाता है।

यह णमोकार महामन्त्र अपराजित है, अन्य किसी मंत्र द्वारा इसकी शक्ति प्रतिहत - अवरुद्ध नहीं की जा सकती है। इसमें असीम सामर्थ्य निहित है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४

समस्त विघ्नों का क्षण भर में नष्ट करनेवाला है और सर्व मंगलों में प्रथम (श्रेष्ठ) मंगल माना गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि णमोकार महामंत्र की महिमा सम्यग्ज्ञान की वृद्धि एवं मोह-राग-द्वेष की हीनता में है, विषय-कषाय से बचने में है, पापभाव एवं पापकर्म से बचने में है।

इस संदर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक में आया वह प्रकरण द्रष्टव्य है, जिसमें इस शंका का समाधान किया गया है कि – "पंच परमेष्ठी के स्तवनादि द्वारा रागादि हीन होने रूप तथा वीतराग विशेषज्ञान की वृद्धि होने रूप प्रयोजन की सिद्धि तो होती है, परंतु जिससे इन्द्रिय जनित सुख उत्पन्न हो तथा वर्तमान दुःख का विनाश हो – ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि होती है या नहीं?"

इस शंका का समाधान करते हुए पण्डित टोडरमल जी कहते हैं – "जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है, और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप प्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मंद करता है अथवा नष्ट करके पुण्य प्रकृति रूप परिणमित करता है; और उस पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव – इन्द्रिय सुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। – इसप्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जिनशासन के भक्त देवादिक उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रिय सुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की काररणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं। – इस प्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादि द्वारा होती है। परंतु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्ट पना मान कर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है तथा कषाय है सो सर्व आकुलता मय है, इसलिए इन्द्रिय जनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना यह भ्रम है।

पुनश्च, इस प्रयोजन के हेतु अरहंतादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादिक की भक्ति करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।

इसप्रकार अरहंतादिक परम इष्ट मानने योग्य हैं।"

उपर्युक्त कथन से दो बातें अत्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं – एक तो यह कि निष्काम भाव से किए गये महामंत्र के स्मरण से लौकिक कार्यों की भी सिद्धि होती है, क्योंकि महामंत्र के स्मरण काल में कषाय की मन्दता होने से पुण्य बंधता है और पाप क्षीण होते हैं, फलस्वरूप अनुकूल बाह्य सामग्री का सहज संयोग होता है। और दूसरी बात यह कि – लौकिक कामना को लेकर किए गये स्मरण से तीव्र कषाय के कारण पाप बन्ध ही होता है। अतः लौकिक प्रयोजन के अर्थ णमोकार मंत्र की आराधना/साधना करना उचित नहीं है। □

अरहंतादिक से प्रयोजन सिद्धि

जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो, उसकार्य का नाम प्रयोजन है। और जिसके द्वारा उस प्रयोजन की सिद्धि हो ही अपना इष्ट है। सो हमारे इस अवसर में वीतराग-विशेषज्ञान का होना ही प्रयोजन है, क्योंकि उसके द्वारा निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलता रूप दुःख का नाश होता है।

इस प्रयोजन की सिद्धि अरहंतादिक द्वारा होती है। किस प्रकार सो विचारते हैं –

आत्मा के परिणाम तीन प्रकार के हैं – संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध .... अरहंतादि के प्रति स्तवनादि रूप जो भाव होते हैं, वे कषायों की मन्दता सहित ही होते हैं, इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं पुनश्च समस्त कषाय मिटाने का साधन हैं, इसलिए शुद्ध परिणाम का कारण हैं – सो ऐसे परिणामों से अपने घातक घातिया कर्म की हीनता होने से सहज ही वीतराग विशेष ज्ञान प्रगट होता है। जितने अंशों में वह हीन हो, उतने अंशों में यह प्रगट होता है – इस प्रकार अरहंतादि द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध होता है। – **मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ७**

णमोकार मंत्र : अनादि या सादि

एसो अणाइ कालो, अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो ।
तइया वि ते पढ़ंता एसुच्चिय जिण णमुक्कारो ॥१६॥

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचंद शास्त्री ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत गाथा 'लघुनवकार' नामक ग्रन्थ से उद्धृत की है। इसमें कहा गया है कि – काल अनादि है, जीव अनादि है, जिनधर्म भी अनादि है, तभी से वे सब इस णमोकार मंत्र को पढ़ते आ रहे हैं। अत: यह महामंत्र भी अनादि है।

एक हिन्दी कवि ने भी कहा है –

"**आगे चौबीस हुई अनन्ती, होसी बार अनन्त ।**
णमोकार तणी कोई आदि न जाने, इम भाखें अरहंत ॥

अरहंत भगवान ने कहा है कि भूतकाल में अनन्त चौबीसी हो चुकी हैं, भविष्य में भी अनन्त होंगी, किन्तु णमोकार मंत्र की आदि को किसी ने नहीं जाना, अत: यह मंत्र अनादि है।"

वस्तुत: बात यह है कि इस महामंत्र में जिन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, स्मरण किया गया है, वे पंचपरमेष्ठी अनादिकाल से होते आ रहे हैं और उन्हें स्मरण करनेवाले, नमस्कार करनेवाले भक्तजन भी अनादि से होते आ रहे हैं; अत: भावापेक्षा यह णमोकार महामंत्र अनादि ही है।

वर्तमान में प्राकृतभाषा में गाथाबद्ध जो णमोकार मंत्र प्राप्त होता है, उसकी गाथारूप रचना लगभग दो हजार वर्ष पहले घरसेनाचार्य के पट्टशिष्य आचार्य पुष्पदंत ने षट्खण्डागम के मंगलाचरण के रूप में की है; अत: इसे सादि भी कह सकते हैं।

षट्खण्डागम के समर्थ टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने उक्त मंगलाचरण की टीका लिखते हुए धवल टीका में इस सन्दर्भ में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इसप्रकार हैं –

"वह मंगल दो प्रकार का है : निबद्धमंगल और अनिबद्धमंगल। ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार के द्वारा जो श्लोकादि पद्य रच कर इष्ट देव को नमन या स्मरण किया जाता है, उसे निबद्धमंगल कहते हैं। तथा जो अन्य द्वारा रचित पद्य ग्रन्थ में उद्धृत किया जाता है या इष्टदेव को मौखिक नमन या स्मरण किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार णमोकार मंत्र निबद्धमंगल है।[१]"

इस दृष्टि से तो यह णमोकार महामंत्र सादि है। और इसके वाच्य पंचपरमेष्ठी अनादि से होते आये हैं – इस दृष्टि से यह मंत्र अनादि है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः इस मंत्र की अर्थयोजना तो अनादि है और प्राकृतभाषा में निबद्ध णमोकार मंत्र के रूप में इस गाथा छन्द की शब्दयोजना सादि है।

भगवती आराधना की टीका में इसे गणधरकृत कहा है। उस कथन की अपेक्षा भी यही है कि अनादि से पंचपरमेष्ठी होते आ रहे हैं और सभी तीर्थंकरों के गणधर अनादि से होते आ रहे हैं तथा सभी गणधर पंचपरमेष्ठी को नमन करते हैं – इस अपेक्षा से णमोकार मंत्र अनादि ही हुआ। और प्राकृत भाषा में रचा गया यह गाथा छन्द आचार्य पुष्पदन्त स्वामी की रचना है – इस अपेक्षा वह सादि भी कहा जाता है – अतः दोनों ही कथन अपनी-अपनी जगह यथार्थ हैं। □

"प्राकृतभाषामय नमस्कार मंत्र महामंगल स्वरूप है। इसका संस्कृत ऐसा होता है :-

नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः नमो लोके सर्वसाधुभ्यः।

इसमें पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है, इसलिए इसका नाम नमस्कार मंत्र है। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४**

१. षट्खण्डागम : जीवस्थान सत् प्ररूपण भाग १, पृष्ठ, ४२

णमोकार मंत्र का पदक्रम

णमोकारमंत्र के पदक्रम पर विचार करते हुए धवलाकार वीरसेनाचार्य लिखते हैं –

"शंका – सर्वप्रकार के कर्मलेप से रहित सिद्ध परमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए अघातियाकर्मों के लेप से युक्त अरहंतों को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण अरहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरहंत परमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुणवाले सिद्धों में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि अरहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता था। किन्तु अरहंत के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इस उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरहंतों का नमस्कार किया जाता है।

यदि कोई कहे कि इसप्रकार आदि में अरहंतों को नमस्कार करना तो पक्षपात है? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है। किन्तु शुभपक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है। ....

आप्त की श्रद्धा से ही आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिए भी आदि में अरहंतों को नमस्कार किया गया है। कहा भी है कि – जिसके समीप से धर्ममार्ग प्राप्त करें, उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए ।[१]"

इसी संदर्भ में ब्रह्मदेवसूरि ने भी लिखा है –

"यहाँ अध्यात्म शास्त्र में यद्यपि (प्रथम) सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है तो भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर उपकार स्मरण करने के

१. षट्खण्डागम, जीवस्थान सत् प्ररूपणा, पृष्ठ ५५

लिए अरहंत परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। कहा भी है कि – अरहंत परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, अत: मुनिवरों ने शास्त्रों की आदि में अरहंत परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है।[१]''

अरहंत भगवान से साक्षात् दिव्यध्वनि का लाभ मिलता है। यदि अरहंत भगवान न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम व पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकता था। अरहंतों के प्रसाद से ही हमें बोध (रत्नत्रय) की प्राप्ति होती है। उनके बिना हमें दु:ख से छूटने का उपाय व सुख की प्राप्ति का उपाय कहाँ से प्राप्त होता? अत: अरहंत हमारे परमगुरु हैं; इसकारण सिद्धों के भी पहले अरहंतों को नमस्कार किया गया है।

दूसरी बात यह है कि – सबसे अधिक गुणवाले सिद्ध परमेष्ठी में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न करानेवाले, उनकी महिमा बतानेवाले तो अरहंत ही हैं। यदि अरहंत भगवान अपनी दिव्यध्वनि द्वारा सिद्धों का स्वरूप नहीं समझाते, उनकी महिमा से हमें परिचित नहीं कराते, उनके गुणों से हमें अवगत नहीं कराते तो हमें क्या पता था कि सिद्ध कौन हैं, उनका क्या स्वरूप है; और उनका अनुसरण करके हम सिद्धदशा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अत: अरहंत भगवान हमारे सन्मार्गदर्शक-तत्वोपदेशक परमगुरु हैं। इस अपेक्षा से अरहंत भगवान ही हमारे प्रथम वंदनीय हैं।

पंचपरमेष्ठी में रत्नत्रय एवं वीतराग-विज्ञान की पूर्णता व अपूर्णता की दृष्टि से पंचपरमेष्ठी को दो विभागों में वर्गीकृत करते हुए डॉ. नेमीचन्दजी शास्त्री ने लिखा है –

''अरहंत और सिद्ध में नमस्कार का उक्त क्रम मान लेनेपर, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं के नमस्कार में उस क्रम का निर्वाह क्यों नहीं किया गया है? यहाँ भी सबसे पहले साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता, पश्चात् उपाध्याय और आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार होना चाहिए था, पर ऐसा पदक्रम क्यों नहीं रखा गया है ?

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ६

उपर्युक्त आशंका पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस महामंत्र में परमेष्ठियों के रत्नत्रय गुण की पूर्णता और अपूर्णता के कारण इसे दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम विभाग में अरहंत और सिद्ध हैं, द्वितीय विभाग में आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। प्रथम विभाग के परमेष्ठियों में रत्नत्रयगुण की न्यूनतावाले परमेष्ठी को पहले और रत्नत्रयगुण की पूर्णतावाले परमेष्ठी को पश्चात् रखा गया है। इस क्रमानुसार अरहन्त को पहले और सिद्ध को बाद में पठित किया है। दूसरे विभाग के परमेष्ठियों में भी यही क्रम है। आचार्य और उपाध्याय की अपेक्षा मुनि का स्थान ऊँचा है, क्योंकि गुणस्थान-आरोहण मुनिपद से ही होता है, आचार्य और उपाध्याय पद से नहीं। यही कारण है कि अन्तिम समय में आचार्यों और उपाध्यायों को अपना-अपना पद छोड़कर मुनिपद धारण करना पड़ता है। मुक्ति भी मुनिपद से ही होती है तथा रत्नत्रय की पूर्णता इसी पद में सम्भव है। अतः दोनों विभागों में उन्नत आत्माओं को पश्चात् पठित किया गया है।

एक अन्य समाधान यह भी है कि – जिसप्रकार प्रथम विभाग के परमेष्ठियों में उपकारी परमेष्ठी को पहले रखा गया है, उसीप्रकार द्वितीय विभाग के परमेष्ठियों में भी उपकारी परमेष्ठी को प्रथमस्थान दिया गया है। आत्मकल्याण की दृष्टि से साधुपद उन्नत है, पर लोकोपकार की दृष्टि से आचार्यपद श्रेष्ठ है। आचार्य संघ का व्यवस्थापक ही नहीं होता, बल्कि अपने समय के चतुर्विध संघ के रक्षण के साथ धर्म के प्रसार-प्रचार का कार्य भी करता है। धार्मिक दृष्टि से चतुर्विध संघ की सारी व्यवस्था उसी के ऊपर रहती है। उसे लोक व्यवहारज्ञ भी होना चाहिए, जिससे लोक में तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित धर्म का भलीभाँति संरक्षण कर सके। अतः जनता के उत्थान के साथ आचार्य का सम्बन्ध है। वे अपने धर्मोपदेश द्वारा जनता को तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अवलोकन कराते हैं। भूले-भटकों को धर्मपन्थ सुझाते हैं। अतएव जनता के धार्मिक नेता होने के कारण आचार्य अधिक उपकारी हैं। इसलिए द्वितीय विभाग के परमेष्ठियों में आचार्यपद को प्रथम स्थान दिया गया है।

आचार्य से कम उपकारी उपाध्याय हैं। आचार्य सर्वसाधारण को अपने उपदेश से धर्ममार्ग में लगाते हैं, किन्तु उपाध्याय मात्र उन्हीं जिज्ञासुओं को अध्ययन कराते हैं, जिनके हृदय में ज्ञानपिपासा है। उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण से नहीं, बल्कि सीमित अध्ययनार्थियों से है। अत: आचार्य के अनन्तर उपाध्याय पद का पाठ भी उपकारकगुण की न्यूनता के कारण ही रखा गया है।

अन्त में मुनिपद या साधुपद का पाठ आता है। साधु दो प्रकार के हैं - द्रव्यलिंगी और भावलिंगी। आत्मकल्याण करनेवाले भावलिंगी साधु हैं। ये अंतरंग - काम, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिग्रह से तथा बहिरंग - धन, धान्य, वस्त्र आदि सभी प्रकार के परिग्रह से रहित होकर आत्मचिन्तन में लीन रहते हैं। ये सदैव लोकोपकार से पृथक रहकर आत्मसाधना में रत रहते हैं। यद्यपि इनकी सौम्य मुद्रा तथा इनके अहिंसक आचरण का प्रभाव भी समाज पर अमिट पड़ता है, पर ये आचार्य या उपाध्याय के समान लोक-कल्याण में संलग्न नहीं रहते हैं। अत: 'सव्व साहूणं' पद को सबसे अन्त में रखा गया है।[१]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि णमोकार मंत्र के पदक्रम में उपकार की अपेक्षा को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। □

मन्त्रं संसार सारं त्रिजगदनुपमं सर्वपापारिमन्त्रं,
संसारोच्छेदमन्त्रं विषम-विषहरं कर्मनिर्मूलमन्त्रं;
मन्त्रं सिद्धिः प्रदानं शिव-सुख जननं केवलज्ञान मन्त्रं,
मन्त्रं श्री जैनमन्त्रं जप-जप-जपितं जन्म निर्वाणमन्त्रम् ॥ १॥

× × ×

आकृष्टिं सुर सम्पदां विद्धते मुक्तिश्रियो वश्यतां ।
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवा विद्वेष मात्मैनसाम्;
स्तम्भं दुर्गमन प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं,
पायात्पंचनमस्क्रिया क्षरमयी साराधना देवता ॥ २॥

---

१. मंगलमंत्र णमोकार : एक अनुचिन्तन, पृष्ठ १९

णमोकार मंत्र और शब्दशक्ति

"शब्दब्रह्म परब्रह्म के, वाचक वाच्य नियोग ।
मंगलरूप प्रसिद्ध है, नमों धर्म-धन भोग ॥[१]"

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने जिसतरह उपर्युक्त दोहे में शब्द ब्रह्म व परब्रह्म में परस्पर वाचक-वाच्य सम्बन्ध बताया है, उसीतरह वाचकरूप णमोकार मंत्र व उसके वाच्यरूप पंचपरमेष्ठी में भी वाचक-वाच्य सम्बन्ध है।

मंत्रों का मनन दो प्रकार से होता है :- अन्तर्जल्प व बहिर्जल्प।

अन्तर्जल्प :- अनुभवपूर्वक मंत्र के अभिधेयार्थ का या उसके वाच्य के स्वरूप का चिन्तन करना अन्तर्जल्प है।

बहिर्जल्प :- जिह्वा से मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करना बहिर्जल्प है।

डॉ. नेमीचन्दजी शास्त्री ने 'मंत्र' शब्द का व्युत्पत्यर्थ तीन प्रकार से किया है :-

"प्रथम, दिवादिगण की ज्ञानार्थक मन् धातु से 'त्र' प्रत्यय लगाकर बनाये गये 'मंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार-मन्यते ज्ञायते आत्मदेशोऽनेन इति मंत्रः अर्थात् **जिसके द्वारा आत्मा का निजानुभव जाना जाय, वह मंत्र है**।

द्वितीय, तनादिगण की अवबोधार्थक 'मन्' धुतु से 'त्र' प्रत्यय लगाकर बनाये गये 'मंत्र' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार -'मन्यते विचार्यंते आत्मदेशो येन स मन्त्रः- अर्थात् **जिसके द्वारा आत्मा के स्वरूप पर विचार किया जाय, वह मंत्र है।'**

तृतीय, सम्मानार्थक 'मन्' धातु से 'त्र' प्रत्यय लगाकर मंत्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्यर्थ है – 'सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः आत्मानः अनेन इति मंत्रः

---

१. समयसार, पृष्ठ १ (हिन्दी टीका का मंगलाचरण)

अर्थात् जिसके द्वारा परम पद में स्थित पंचपरमेष्ठी स्वरूप आत्माओं का सत्कार किया जाय, वह मंत्र है।[१]

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि मंत्र की उपर्युक्त तीनों ही परिभाषाओं में आत्मा-परमात्मा की ही मुख्यता है। अतएव उसे लौकिक प्रयोजनों से जोड़ना ठीक नहीं है।

इसप्रकार मंत्र की उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तिपरक परिभाषाओं की कसौटी पर णमोकार मंत्र खरा उतरता है; क्योंकि –

प्रथम तो इस मंत्र द्वारा आत्मा का निजानुभव होता है या आत्मा का स्वरूप जाना जाता है।

दूसरे, पंचपरमेष्ठी के स्वरूप के विचार के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का प्रतिभास होता है।

और तीसरे, इस मंत्र द्वारा परमपद में स्थित पंचपरमेष्ठी का सत्कार किया गया है।

मंत्र मात्र किसी स्वर विशेष में शब्दों का या ध्वनियों का उच्चारण ही नहीं है, और न केवल विचार मात्र को ही मंत्र की संज्ञा दी जा सकती है। मंत्र ध्वनि और ज्ञानानुभूति का वह सुन्दर समायोजन है, जो स्मरणकर्ता या जाप करनेवाले पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ता है। शाब्दिक ध्वनियाँ मंत्र का शरीर है और ज्ञानानुभूति उसका आत्मा है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी उपर्युक्त पद्य में शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म में इसप्रकार का वाचक-वाच्य सम्बन्ध स्वीकार किया है।

जिसतरह चेतन से शून्य शरीर केवल मुर्दा है, उसीतरह भावशून्य शब्दों का भी कुछ मूल्य नहीं होता।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी कहा है –

"**यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव शून्यः**

अर्थात् – भावशून्य क्रियाएँ फलदायक नहीं होतीं।"

१. मंगलमंत्र णमोकार : एक अनुचिन्तन, आमुख पृष्ठ ९।

मात्र शब्दों के मूल में ऐसी कोई आणविक शक्ति नहीं है, जिसका विस्फोट पापों को भस्म कर दे। अथवा ऐसी विद्युत तरंगें नहीं हैं, जो अनजान को भी विद्युत करेन्ट की तरह छूने मात्र से प्रभावित कर दें। जिसप्रकार इमली के स्वाद से परिचित व्यक्ति के मुँह में इमली का नाम सुनकर पानी आ सकता है, किन्तु जिसने कभी इमली को चखा न हो, वह कितना ही इमली का नाम बोले या सुने, उसके मुँह में पानी नहीं आयेगा; उसीप्रकार जिसे णमोकार मंत्र के वाच्य पंचपरमेष्ठी का स्वरूप ध्यान में है, उसका हृदय कमल ही णमोकार मंत्र को सुनने से खिल सकता है, अन्य का नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि णमोकार मंत्र के बारम्बार पढ़ने से उसकी शब्द-शक्ति बैटरी की तरह रिचार्ज हो जाती है और उसमें पर को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता आ जाती है। पर इसका शब्दार्थ नहीं अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

इस कथन का भी यही अभिप्राय है कि – जब णमोकार मंत्र को बारम्बार दुहराया जाता है तो निश्चित ही दुहरानेवाले की आत्मा में उसके माध्यम से परमेष्ठी के स्वरूप की धारणा मजबूत होती जाती है। मात्र शब्दों में ऐसी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है, जो पर को प्रभावित कर सके। हाँ, निमित्त-नैमित्तिक संबंध अवश्य है, सो उसमें नैमित्तिक की भी स्वयं की समझरूप अपनी योग्यता एवं तदनुरूप परिणमने की शक्ति होती है, तभी मंत्र की शक्ति गतिमान होकर सार्थक सिद्ध होती है।

वस्तुतः वाच्य रूप पंचपरमेष्ठी की महिमा एवं शक्ति से ही वाचक णमोकार मंत्र की महिमा एवं शक्ति मापी जाती है। पंचपरमेष्ठी की महिमा से ही जड़ अक्षरों की महिमा है। जब परमात्मा की प्रतिष्ठा से पत्थर भी भगवान बन जाता है तो पंचपरमेष्ठी रूप परब्रह्म का वाचक शब्द 'शब्दब्रह्म' संज्ञा को प्राप्त क्यों नहीं करेगा? करेगा ही। □

णमोकार मंत्र और मनोरथपूर्ति

यद्यपि पुराणों में प्रयोजन वश-प्रथमानुयोग की कथन पद्धति के अनुसार णमोकार मंत्र के माहात्म्य के वर्णन एवं तत्संबंन्धी कथाओं में अनेक जगह यह भाव प्रगट किया गया है कि – इस महामंत्र के स्मरण से समस्त लौकिक कामनाओं, सुख-समृद्धियों की पूर्ति होती है तथा परलोक से स्वर्गादि की सुखसम्पदायें प्राप्त होती हैं; किंतु वस्तुत: यह लौकिक विषय-कषाय जनित कामनाओं की पूर्ति का मंत्र नहीं, बल्कि उन्हें समाप्त करनेवाला महामंत्र है। वस्तुत: देखा जाय तो इस महामंत्र के विवेकी आराधकों के लौकिक कामनायें होती ही नहीं हैं, होना भी नहीं चाहिए, क्योंकि इसमें जिन्हें स्मरण व नमन किया गया है, वे सभी स्वयं वीतरागी; महान आत्मायें हैं, वे न किसी का भला-बुरा करते हैं, न कर सकते हैं। पंचपरमेष्ठी की शरण में आने पर जब लौकिक कामनायें स्वत: क्षीण ही हो जाती हैं, तो फिर उनकी पूर्ति का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है?

यह बात जुदी है कि पंचपरमेष्ठी के निष्काम उपासकों को भी सातिशय पुण्य बंध होने से लौकिक अनुकूलतायें भी स्वत: मिलतीं देखी जातीं हैं तथा वे उन अनुकूलताओं को एवं सुख-सुविधाओं को स्वीकार करते हुए उनका उपभोग करते हुए भी देखे जाते हैं, किन्तु सहज प्राप्त उपलब्धियों को स्वीकार करना अलग बात है और उनकी कामना करना अलग बात। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है।

आतिथ्य-सत्कार में नाना मिष्ठान्नों का प्राप्त होना और उन्हें सहज स्वीकार कर लेना जुदी बात है और उनकी याचना करना जुदी बात है। दोनों को एक नजर से नहीं देखा जा सकता। ज्ञानी अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण पुण्योदय से प्राप्त अनुकूलता के साथ समझौता तो सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु वे पुण्य की या पुण्य के फल की भीख भगवान से नहीं माँगते। मंत्र की आराधना के काल में संयोगवशात् जब किसी को लौकिक

सुख सामग्री या समृद्धि प्राप्त हो जाती है तो दोनों का समकाल होने से ऐसी भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि यह समृद्धि इस मंत्र के प्रसाद से हुई है। बिल्ली का झपटना और स्वतः जीर्ण-शीर्ण छींके का टूटना कभी-कभी एक काल में हो जाता है, तब भी यही कहा जाता है कि बिल्ली ने छींका तोड़ दिया। बिल्ली रोज झपटती थी और छींका आजतक नहीं टूटा। यदि उसके झपटने से ही छींका टूटा है तो कलतक क्यों नहीं टूटा? इसीप्रकार वही मंत्र वर्षों से पढ़ते आ रहे हैं और आजतक कुछ लौकिक लाभ नहीं हुआ। यदि उसी से होता था तो अबतक तो कभी का हो जाना चाहिए था।

हाँ, यह बात अवश्य है कि मंत्राराधना के काल में सहज ही शुभोपयोग होने से सातिशय पुण्य का बँध होता है, उस पुण्य के उदयकाल में धर्माचरण के लिए लौकिक अनुकूलतायें सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

णमोकार मंत्र की आराधना का अन्तिम फल तो अपवर्ग की उपलब्धि ही है; किन्तु इसकी आराधना के मार्ग में बहुत सारी लौकिक उपलब्धियां भी प्राप्त होती रहती हैं, जो समय-समय पर उसकी महिमा बढ़ाने में जुड़ती रहती हैं। उन उपलब्धियों का मूल कारण पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से प्राप्त कषाय की सहज मन्दता एवं उस से प्राप्त पुण्य का उदय है, बस यही णमोकार मंत्र का चमत्कार है। □

मंत्रराज मन धार!

बैठत चलते सोवते, आदि अंत लों धीर।
इस अपराजित मंत्र को, मत विसरो हे वीर॥
सकल लोक सब काल में, कर्वागम में सार।
'भूधर' कबहूँ न भूलिए, मंत्रराज मन धार॥

—कविवर भूधरदास

णमोकार मंत्र के पाठभेद

ग्रन्थ के मंगलाचरण के रूप में रचित इस महामंत्र के 'अरहंताणं' पद की व्याख्या में वीरसेन स्वामी ने जो इसके पाठान्तरों की चर्चा करते हुए अरहन्त, अरिहन्त एवं अरुहन्त पदों की व्याख्या की है, वह इसप्रकार है –

'अरहन्त' अर्थात् देवों द्वारा पूज्य, 'अरिहन्त' अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय – इन चार घातिया कर्म शत्रुओं के नाशक एवं 'अरुहन्त' अर्थात् संसाररूपी वृक्ष के बीज के दग्ध करनेवाले अरहंत भगवान को हमारा नमन हो।[१]

श्वेताम्बर आम्नाय के पाठों में दिगम्बर आम्नाय के पाठों की अपेक्षा कोई मौलिक भेद नहीं है। अन्तर केवल "णमो" की जगह "नमो" पाठ में है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से भी "णमो" पाठ ही समीचीन है; क्योंकि इस पाठ के उच्चारण में आत्मा की शक्ति अधिक लगती है, अतः उपयोग की स्थिरता अधिक होने से फल की प्राप्ति शीघ्र होती है। णमोकार मंत्र के उच्चारण में जिस प्राणवायु के संचार की जरूरत होती है वह 'णमो' के घर्षण से ही उत्पन्न हो सकती है, अतः "णमो" ही ठीक है। इसके अतिरिक्त "आइरियाणं की जगह कहीं-कहीं "आयरियाणं" पाठ भी मिलता है, किन्तु इसके अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

'चत्तारि मंगलं' पाठ में भी कुछ पाठ भेद हैं, जो इसप्रकार हैं–

लोगुत्तमा की जगह लोगोत्तमा तथा पव्वज्जामि की जगह पवज्जामि पाया जाता है।

यह पाठ-भेद पाठकों की सामान्य जानकारी के लिये दिये गये हैं, किन्तु इनसे पाठकों को भ्रमित नहीं होना चाहिए। जो व्याकरण सम्मत मूल पाठ दिये हैं, वे ही बोलें; उन्हें ही सत्य मानकर उच्चारण करना चाहिए। □

---

१. 'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः' तथा भ्रष्टबीजवन्निजश्कीतकृताधातिकर्मणो। धवला टीका, पृष्ठ ४५

द्रव्यश्रुत और णमोकार मंत्र

दैवयोग से यह भी एक सहज संयोग ही समझिए कि इस महामंत्र की शाब्दिक संरचना भी इसप्रकार की संगठित हुई है कि जिसमें द्रव्यश्रुत के सभी वर्ण (अक्षर) आ गये हैं।

प्राकृतभाषा के नियमानुसार तो इस महामंत्र में इस भाषा के चारों मूल स्वर (अ, इ, उ और ए) तथा बारहों व्यंजन (ज, झ, ण, त, द, ध, र, ल, व, स और ह) निहित हैं ही, संस्कृत वर्णमाला के अनुसार भी "अर्हंताणं" के "अर्हं" पद में वर्णमाला के प्रारंभिक "अ" एवं अन्तिम वर्ण "ह" आ जाने से सम्पूर्ण वर्णमाला का प्रतिनिधित्व हो गया है।

इसके अतिरिक्त इस महामंत्र में पाँच पद एवं पाँचों पदों में पैंतीस अक्षर हैं। पहले – 'णमोअरिहंताणं' पद में ७, दूसरे – 'णमो सिद्धाणं' में ५, तीसरे – 'णमोआइरियाणं' में ७, चौथे – 'णमोउवज्झायाणं' में ७ और पाँचवें– 'णमोलोए सव्व साहूणं' पद में ९ अक्षर हैं। इसप्रकार कुल ७+५+७+७+९=३५ अक्षर हुए। इनमें ३० तो स्वरसंयुक्त व्यंजन हैं और ५ स्वतंत्र स्वर हैं। इनके स्वर व व्यंजनों का विश्लेषण करके देखें तो इनमें से मंत्रशास्त्र के व्याकरण के नियमानुसार प्रथम पद के अरहंताणं के "अ" का लोप हो जाता है, अतः स्वर ३४ एवं स्वर संयुक्त व्यंजन ३० हैं, इसप्रकार कुल मिलाकर इस मंत्र में ६४ अक्षर होते हैं और पूरी वर्णमाला में भी ६४ अक्षर होते हैं।

इसतरह वर्णमाला की संख्या की अपेक्षा भी इस महामंत्र में द्रव्यश्रुत की पूरी वर्णमाला आ जाती है।

अतः द्रव्यश्रुत की सम्पूर्ण वर्णमाला की दृष्टि से भी णमोकार मंत्र का जाप करने से द्वादशांग का पारायण (पाठ) हो जाता है। इस अपेक्षा से भी णमोकार मंत्र को सम्पूर्ण द्वादशांग का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है।

परन्तु यह अपेक्षा जिनागम में अत्यन्त गौण है; क्योंकि जैनधर्म आत्मा का धर्म है, इसमें भावों की प्रधानता है, तत्वज्ञान की मुख्यता है। आत्मा के योग

व उपयोग के स्वभावसन्मुख हुए बिना, तत्वज्ञान हुए बिना केवल मंत्रोच्चारण अधिक कार्यकारी नहीं होता। अत: णमोकार मंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो व्यक्ति अपने आत्मा में अपना उपयोग स्थिर करता है, वही इस मंत्र के असली लाभ से लाभान्वित होता है। ❑

'न' और 'ण'

विश्वभारती लाडनूं से प्रकाशित "तुलसी प्रज्ञा" पत्रिका (अक्टू.+दिस. ९३) के लेखानुसार भी "ण" ही उपयुक्त है, समीचीन है। वहाँ लिखा है – "णमो" के उच्चारण से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह स्वरमय होने से तथा "न" से वृहद होने से मंत्र आराधक के शरीर की हृदयतंत्री को अधिक समय तक तरंगित करती है। इससे मंत्रोच्चारण करने वालों का ध्यान इधर-उधर नहीं भटक कर अपने लक्ष्य की ओर निश्चित गति से अग्रसर होता है।

णमोकार मंत्र के प्रत्येक पद में प्रारंभ में एवं अन्त में "ण" वर्ण आया है। मंत्र के अन्तर्गत कुल दस "ण" हैं। प्रत्येक पद के प्रारंभ का "ण" बिना अनुस्वार का है और अन्त का "ण" अनुस्वार सहित है। संगीतशास्त्र एवं शरीरविज्ञान के अनुसार प्रारंभ का "ण" ध्वनि को गति देता है और अंत का "णं" ध्वनि को विराम देता है। भाषा विज्ञान के अनुसार भी प्रारंभ के "ण" की ध्वनियाँ गतिमान होती हुई शरीर के रोम-रोम को झंकृत कर देती हैं और अन्त के "णं" वर्ण उक्त ध्वनियों को धीरे-धीरे विराम देते हैं। इसप्रकार "ण" का उच्चारण चित्त को स्थिरता प्रदान करता है।

"ण" की ध्वनि "न" से अधिक प्रभावी और वजनदार है, इसकारण वह शरीर के समस्त स्नायुतंत्रों को तरंगित करती हुई चिन्तन धारा को गति प्रदान करती है। संगीत कला की दृष्टि से "ण" का प्रभाव "न" की तुलना में अधिक प्रभावी है।

यह कर्ता-कर्म सम्बन्ध तो नहीं, पर सहज निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध तो है ही, अत: "ण" का प्रयोग ही समीचीन है।

– लेखक

उपसंहार

सम्पूर्ण जैन समाज में सर्वाधिक श्रद्धास्पद, करोड़ों कण्ठों से प्रतिदिन अनेकानेक बार उच्चरित इस णमोकार महामंत्र में सीधे-सादे अनलंकृत शब्दों में वीतरागी पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। न तो इसमें वीजाक्षरों का प्रयोग है और न कुछ गुह्य ही है, सबकुछ एकदम स्पष्ट है।

लौकिक कामनाओं से ग्रस्त चमत्कारप्रिय जगत को ऐसा लगता है कि यह कैसा महामंत्र है, जिसमें न तो "ॐ ह्राँ ह्रीं" आदि बीजाक्षरों का घटाटोप है और न संकटों के मोचन एवं सम्पत्तियों के उपलब्धि की ही चर्चा है। सर्वसुलभ इस महामंत्र में ऐसा क्या है, जिसके कारण यह साधारण-सा मंगलाचरण सर्वमान्य महामंत्र बन गया, कोटि-कोटि कण्ठों का कण्ठहार बन गया ?

यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इस महामंत्र की सरलता, सहजग्राह्यता एवं निष्काम वन्दना ही इसकी महानता का मूल कारण है। मात्र इस महामंत्र की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वीतरागी जैनदर्शन की भी यही महानता है कि वह कामनाओं की पूर्ति में नहीं, नाश में आनन्द मानता है; विषयभोगों की उपलब्धि में नहीं, त्याग में आनन्द मानता है। जगत के सहज स्वाभाविक परिणमन के वस्तु का स्वभाव माननेवाले अकर्तावादी जैनदर्शन में चमत्कारों को कोई स्थान नहीं है। वीतरागी पंच परमेष्ठियों के उपासक सच्चे जैन वीतरागी भगवान से वीतरागता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं - जैनदर्शन का यह परम सत्य ही इस महामंत्र में प्रस्फुटित हुआ है।

इस महामंत्र की महिमावाचक जो सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वाधिक प्रचलित गाथा उपलब्ध होती है, उसमें भी यही कहा गया है कि - यह मंत्र सब पापों का नाश करनेवाला और सब मंगलों में पहला मंगल है। इस गाथा के किसी भी शब्द से यह व्यक्त नहीं होता है कि - यह महामंत्र शत्रुविनाशक

या विषयभोग प्रदाता है। यह महामंत्र शत्रुनाशक तो नहीं, शत्रुता नाशक अवश्य है; इसीप्रकार विषयभोग प्रदाता तो नहीं, विषयवासना विनाशक अवश्य है।

यह महामंत्र भौतिक मंत्र नहीं है, आध्यात्मिक महामंत्र है; क्योंकि उसमें आध्यात्मिक पराकाष्ठा को प्राप्त पंच परमेष्ठियों को स्मरण किया गया है। अत: इसकी महानता भी भौतिक उपलब्धियों में नहीं, आध्यात्मिक चरमोपलब्धि में है। अत: इसका उपयोग भी भौतिक उपलब्धियों की कामना से न किया जाकर आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिये किया जाता है और किया जाना चाहिए। भौतिक अनुकूलता की वांछा से इसका उपयोग करना कौआ को उड़ाने के लिये चिन्तामणि रत्न को फेंक देने के समान है।

आध्यात्मिक व्याधि मोह-राग-द्वेष के नाश करने के लिये यह परमौषधि है, विषय-वासनारूपी विष को उतारने के लिये यह नागदमनी जड़ी-बूटी है, भवसागर से पार उतारने के लिये अद्भुत अपूर्व जहाज है। अधिक क्या कहें, निजात्मा के ध्यान से च्युत होने पर एकमात्र शरणभूत यही महामंत्र है। इसमें जिन्हें नमस्कार किया गया है, वे पंच परमेष्ठी ही हैं। विषय-वासनाओं से विरक्त ज्ञानी धर्मात्माओं को शरणभूत एकमात्र यही महामंत्र तो है, जिसमें निष्कामभाव से आध्यात्मिक चरमोपलब्धि के प्रति नतमस्तक हुआ गया है।

भले ही गाथाबद्ध महामंत्र की शाब्दिक रचना किसी काल-विशेष में किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा की गई हो, तथापि यह महामंत्र अपनी विषयवस्तु एवं भावना की दृष्टि से सर्वकालिक अनादि-अनन्त एवं सार्वभौमिक है; क्योंकि इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके पंच परमपदों को नमस्कार किया गया है। ये परमपद सार्वकलिक हैं, अत: यह महामंत्र भी सार्वकालिक ही है। सभी के लिये अत्यन्त उपयोगी होने से यह सार्वभौमिक भी है।

सभी क्षेत्रों और सभी कालों में रहनेवाले सभी प्राणियों को समानरूप से शान्ति प्रदान करनेवाला यह मंत्र सभी जीवों के लिये परम मंगल हो, परमोत्तम हो एवं परमशरणभूत हो – इस मंगलकामना के साथ विराम लेता हूँ। ❑

णमोकार महामंत्र : किंवदन्तियाँ और कथायें

इस महामंत्र की महानता के संबंध में समय-समय पर प्रचारित किंवदन्तियों एवं पौराणिक कथा-कहानियों से जहाँ एक ओर जैनजगत में इस महामंत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है, जिज्ञासा जगी है; वहीं दूसरी ओर अंधविश्वास एवं भ्रांत धारणायें भी कम प्रचलित नहीं हुई हैं। इन भ्रांत धारणाओं एवं अंधविश्वासों के निराकरण के लिए इस महामंत्र के सही स्वरूप का एवं प्रचलित कथा कहानियों का जितना भी अनुशीलन/परिशीलन किया जाये, कम ही है।

देखो, इन भोले भक्तों का अविवेक, ये वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान से कैसी-कैसी सौदेबाजी करते हैं। उनसे अपने मनोरथों की पूर्ति कराने के लिए उन्हें कैसे-कैसे प्रलोभन देते हैं। उनसे कैसी-कैसी शर्तें लगाते हैं। कहते हैं – 'यदि आप हमारे बच्चे को ठीक कर दोगे, मुकदमा जिता दोगे, कमाई करा दोगे, लाटरी खुलवा दोगे ··· तो हम आपको छत्र चढ़ायेंगे, पूजा-विधान करायेंगे, घी के दीपक की अखण्ड ज्योति जलायेंगे, आपके तीर्थस्थान की ससंघ यात्रा करने आयेंगे, यदि बहू के बेटा हो जायगा तो उसका मुण्डन कराने तो यहाँ आयेंगे ही, सपरिवार बहू के हाथे पलटने भी आयेंगे, मन्दिर का जीर्णोद्धार करा देंगे, तीरथ पर सीढ़ियाँ लगवा देंगे। मानो, भगवान यह सब कराने के लिए तरस रहे हों, आशा लगाये ही बैठे हों।

इन्हें अपने भगवान पर इतना भी भरोसा नहीं है कि पहले पूजा-पाठ आदि जो कराना चाहता है, करादे; बाद में काम तो हो ही जायगा। पर नहीं, क्या भरोसा भगवान का? काम न हुआ तो? लोक में ऐसी शंका नहीं करता। प्लेन व रेल के टिकट महीनों पहले लेता है, माल का एडवांस पहले देता है, डाक्टर की फीस पहले देता है, पर भगवान की पूजा-पाठ कामनायें पूरी होने पर करेगा?

णमोकार महामंत्र जैसे अनादि शाश्वत अचिन्त्य महिमावंत महामंत्र के साथ भी पता नहीं लोग कैसी-कैसी सशर्त कामनायें करते हैं? फिर लौकिक घटनायें जोड़कर उसकी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। पर लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाने से अलौकिक महामंत्र की महिमा कैसे बढ़ सकती है? अरे भाई!

लौकिक कार्यों की सिद्धि तो पुण्य के प्रताप से होती है, सीधे मंत्रों के जाप जपने से नहीं। हाँ, यदि निष्कामभाव से मंत्र जपते हुए कषायें अत्यन्त मंद रहें तो पुण्यबंध होता है; पर ज्ञानी उसे भी उपादेय नहीं मानते, उसके फल में लौकिक कामनायें नहीं करते। लौकिक कामनाओं से तो उल्टा पाप बंध ही होता है; क्योंकि ऐसी कामनायें तो तीव्र कषाय में ही संभव हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि – ''क्या पुराणों की कथाओं के अनुसार यह मानना मिथ्या है कि –णमोकार महामंत्र के स्मरण मात्र से उनके सब संकट दूर हुए थे? अथवा णमोकार मंत्र के जाप से सब संकट दूर हो जाते हैं और सब पाप नष्ट हो जाते हैं? जैसा कि पुण्यास्रव कथाकोष में उल्लिखित इन कथाओं में कहा गया है।

* पहली कथा में स्पष्ट उल्लेख है कि – सुग्रीव के जीव ने बैल की योनि में मरणासन्न दशा में सेठ के द्वारा णमोकारमंत्र सुनकर स्वर्ग प्राप्त किया था।

* दूसरी कथा में साफ-साफ कहा गया है कि – चारणऋद्धिधारी ऋषियों के द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुआ बंदर महामंत्र णमोकार के प्रभाव से दोनों लोकों में सुख भोगकर केवली पद को प्राप्त हुआ।

* तीसरी कथा में चर्चा आई है कि – राजा विंध्यकीर्ति की पुत्री विजयश्री सुलोचना के द्वारा सुनाये गये मंत्र के प्रभाव से इंद्राणी हुई।

* चौथी कथा में यह कहा गया है कि – वह बकरा, जिसे मरते समय चारुदत्त ने णमोकार मंत्र सुनाया, उससे वह दिव्य शरीर वाला देव हुआ।

* पांचवीं कथा में आया है कि – वे नाग-नागिनी, जिन्हें पार्श्वकुमार ने मरणासन्न दशा में णमोकार मंत्र दिया था, उससे वे धरणेंद्र पद्मावती हुए।

* छठवीं कथा में कहा है कि – कीचड़ में फंसी हुई हथिनी विद्याधर द्वारा दिए गये महामंत्र के प्रभाव से भवान्तर में राजा जनक की पुत्री सीता हुई।

* सातवीं कथा में यह कहा है कि – दृढ़सूर्य चोर शूली पर दुस्सह दु:ख से व्याकुल होकर यद्यपि जल पीने की आशा से णमोकार मंत्र का उच्चारण कर रहा था, तब भी उसके प्रभाव से वह देवपर्याय को प्राप्त हुआ।

* अंतिम आठवीं कथा में तो यहाँ तक कह दिया है कि – विवेकहीन सुभग ग्वाला उस **मंत्र के केवल प्रथम पद के** उच्चारण मात्र से तद्भव मोक्षगामी सुदर्शन **सेठ हुआ और उसने उसी भव से** मुक्ति की प्राप्ति की।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि – क्या ये कथायें कल्पित हैं, मिथ्या हैं?

समाधान : नहीं, पौराणिक कथायें पौराणिक होती हैं, न कल्पित न मिथ्या; परंतु प्रथमानुयोग के प्रयोजन व कथन पद्धति को न समझने वाले उन कथाओं का अन्यथा अभिप्राय ग्रहण करके अर्थ का अनर्थ करते अवश्य देखे जाते हैं। यदि उपर्युक्त कथाओं के कथन का प्रयोजन व अभिप्राय ग्रहण करके अक्षरशः सर्वथा ऐसा ही मान लिया जाये तो जो प्रतिदिन नियमित रूप से त्रिकाल णमोकारमंत्र का जाप करते हैं, पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हैं, उनके जीवन में अनेक दुःख या संकट क्यों देखे गये? अथवा जो स्वयं पंचपरमेष्ठी में शामिल हैं – ऐसे पांचों पाँडवों पर ऐसा भयंकर उपसर्ग क्यों हुआ? उन्हें अंगार सदृश जलते हुए लोहे के कड़े क्यों पहनाये गये? और पहना भी दिये तो ठंडे क्यों नहीं हुए ?

ऐसे और भी अनेक पौराणिक उदाहरण दिये जा सकते हैं; जिन्होंने हृदय से पंचपरमेष्ठी की आराधना की, प्रतिदिन णमोकार मंत्र का जाप किया और स्वयं भी पंचपरमेष्ठी के पदों पर विराजमान रहे, फिर भी उन्हें अनेक प्रतिकूल प्रसंगों का सामना करना पड़ा।

जैसे कि – (१) भावलिंगी संत तद्भव मोक्षगामी सुकुमाल मुनि को स्यालिनी ने खाया, (२) सुकौशल मुनिराज को शेरनी ने खाया, (३) गजकुमार मुनिराज के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई (४) राजा श्रेणिक के द्वारा मुनिराज के गले में मरा सांप डालने से मुनिराज को लाखों-लाख चींटियों ने काटा, (५) श्रीपाल को कुष्ठ रोग ने घेरा, (६) तीर्थंकर के भव में मुनि पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया, (७) प्रथम तीर्थंकर मुनिराज आदिनाथ को छह माह तक प्रतिदिन लगातार आहार की चर्या पर निकलने पर भी आहार नहीं मिला, (८) महासती सीता को दो-दो बार वनवास के दुःख उठाने पड़े, (९) तद्भव मोक्षगामी राम भी १४ वर्ष तक वन-वन भटकते फिरे, (१०) प्रद्युम्नकुमार को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा, (११) जीवन्धर और उनके माता-पिता रानी विजया व सत्यन्धर को मरणतुल्य कष्ट झेलने पड़े, (१२) महासती मनोरमा को मजदूरी करनी पड़ी, (१३) सुदर्शन सेठ

को सूली पर चढ़ना पड़ा, (१४) सैकड़ों मुनियों को घानी में पिलना पड़ा, (१५) अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों को बलि आदि मंत्रियों कृत उपसर्ग झेलने पड़े। आखिर ऐसा क्यों हुआ ?

जबकि ये सब पंच नमस्कार मंत्र के आराधक तो थे ही, इनमें अधिकांश तद्भव मोक्षगामी और भावलिंगी संत भी थे, और आदिनाथ व पार्श्वनाथ तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान की पूर्व भूमिका में ही स्थित थे, फिर भी उन पर उपसर्ग क्यों हुए ?

इससे स्पष्ट है कि अकेले मंत्रों के स्मरण से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्य की सिद्धि तो अनेक कारणों से ही होती है; पर जिस कारण की महिमा बतानी होती है; प्रथमानुयोग की कथाओं में उसे मुख्य करके शेष कारणों को गौण कर दिया जाता है। यही प्रथमानुयोग की कथनशैली है। विशेष जानकारी के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अध्याय में आये प्रथमानुयोग का प्रयोजन (पृष्ठ २६८-२६९) एवं प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान (पृष्ठ २६९ से २७४) अवश्य देखें।

देखो! एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं, तब कहीं कार्य संपन्न होता है तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी कारण महत्वपूर्ण होते हैं। जिसप्रकार लाखों रुपयों की मशीन में दो रुपये के स्क्रू का भी महत्वपूर्ण योगदान होता हैं, उसीप्रकार प्रत्येक कार्य में सभी कारणों का अपना-अपना स्थान है; पर कथन में कभी कोई कारण मुख्य होता और कभी कोई अन्य।

उदाहरण के तौर पर हम एक ऐसे बीमार व्यक्ति को लें, जिसे अचानक हार्टअटैक हुआ है और डॉक्टर के कहे अनुसार यदि समय पर मेडिकल सहायता न मिलती तो वह दो घंटे में ही दम तोड़ने वाला था, परन्तु पड़ोसी ने यथासमय उसे इमरजेंसी वार्ड में पहुँचाकर और होशियार डॉक्टर को बुलाकर, रात में २ बजे मेडिकल स्टोर्स खुलवाकर, बीमार को बचाने के लिए अत्यंत आवश्यक दवा की व्यवस्था कर दी; जिससे वह बीमार व्यक्ति बच गया। इसप्रकार उस रोगी के प्राण बचाने में चार कारण मिले :-

(१) पड़ोसी (२) डॉक्टर (३) मेडीकल स्टोर वाला और (४) दवा।

अब देखिये इस घटना के प्रत्यक्षदर्शियों में से एक व्यक्ति तो पड़ोसी के गीत गाते हुए कहता है – "पड़ोसी हो तो ऐसा हो। यदि वह समय पर व्यवस्था नहीं करता तो बेचारा मर ही जाता।"

दूसरा डॉक्टर के गीत गाता है – कहता है –"काश! ऐसा होशियार डॉक्टर समय पर न मिलता, तो वह बेचारा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता।"

तीसरा कहता है – "अरे! यह तो सब ठीक है, परन्तु यदि वह दवाई समय पर उपलब्ध न होती तो बेचारा डॉक्टर भी क्या कर सकता था? उस बेचारे दुकानदार की कहो, जिसने रात के दो बजे दुकान खोलकर दवा दे दी।"

चौथा कहता है – "इन बातों में क्या धरा है? आयुकर्म ही सर्वत्र बलवान है। यदि आयु ही समाप्त हो गई होती तो धनवंतरी जैसा वैद्य भी नहीं बचा सकता था। ये सब तो निमित्त की बातें हैं। जब जीवनशक्ति ही समाप्त हो जाती है तो सारे के सारे प्रयत्न धरे रह जाते हैं। मौत के आगे किसी का वश नहीं चलता। यदि पड़ोसी, डॉक्टर, मेडिकल स्टोर वाला और दवायें ही बचाती होतीं तो डॉक्टर आदि ने अपने सगे माँ-बाप एवं प्रिय कुटुम्ब-परिवार को क्यों नहीं बचा लिया? बचा लेते न वे उन्हें!"

पांचवें ने कहा – "अरे भाई! चारों व्यक्तियों ने तो केवल अपने-अपने विकल्पों की ही पूर्ति की है, उन्होंने तो उसके बचाने में कुछ किया ही नहीं, पर आयुकर्म भी अचेतन है, जड़ है, वह भी जीव को जीवनदान देने में समर्थ नहीं है। वह उन चार निमित्तों की तरह ही है। वास्तविक बात तो यह है कि उस मरीज के उपादान की योग्यता ही ऐसी थी कि जिसे-जहाँ-जबतक जिन संयोगों में अपनी स्वयं की योग्यता से रहना था, तबतक उन्हीं संयोगों के अनुरूप उसे वहाँ उसी रूप में सब बाह्य कारण कलाप सहज ही मिलते गये। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कुछ करता ही नहीं, द्रव्यों का समय-समय होनेवाला परिणमन भी स्वतंत्र है। ऐसा ही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

आयुकर्म का उदय भी एक निमित्त कारण ही है। निमित्त होते तो अवश्य हैं, पर वे कर्ता नहीं हैं। कार्य के समय उनकी उपस्थिति होती है, अतः कभी

किसी को महत्त्व मिल जाता है और कभी किसी को। वक्ता के द्वारा जब जिसको जैसा मुख्य गौण करना होता है, कर देता है। वास्तविक कारण तो जीव की तत्समय की योग्यता ही है। अन्य कारण कलाप तो समय पर मिलते ही हैं।

कहा भी है - **तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्चतादृशाः।**
सहायतास्तादृशाः संति यादृशी भवितव्यता॥

अर्थात् जीव का जिससमय-जैसा-जो होना होता है, तदनुसार ही बुद्धि या विचार उत्पन्न हो जाते हैं। प्रयत्न भी वैसे ही सहज होने लगते हैं, सहयोगियों में वैसा ही सहयोग करने एवं दौड़-धूप करने की भावना बन जाती है और कार्य हो जाता है; अतः कारणों के मिलाने की आकुलता मत करो।

देखो! कारण मिलाने को मना नहीं किया है, बल्कि कारण मिलाने की आकुलता न करने को कहा है।

जिसे वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, उसे आकुलता नहीं होती। भूमिकानुसार जैसा राग होता है, वैसी व्यवस्थाओं का विकल्प तो आता है, पर कार्य होने पर अभिमान न हो तथा कार्य न होने पर आकुलता न हो; तभी कारण-कार्य व्यवस्था का सही ज्ञान है - ऐसा माना जायेगा।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि दवायें और डॉक्टर कुछ नहीं करते तो लाखों डॉक्टर्स, करोड़ों रुपयों के मेडिकल साधन सब बेकार हैं क्या? और क्या शासन का करोड़ों रुपयों का मेडिकल बजट व्यर्थ ही बरबाद हो रहा है, पानी में जा रहा है?

यह किसने कहा कि सब बेकार है? मैं तो यह कह रहा हूँ कि - जब जो कार्य होना होता है, तब उसके अनुरूप सभी कारण कलाप मिलते ही हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक कार्य होने में अनेक कारण होते हैं, किन्तु कथन किसी एक कारण की मुख्यता से किया जाता है, अन्य कारण गौण रहते हैं।

मुख्य-गौण करके कथन करने की ये ही तो विभिन्न अपेक्षायें हैं। पहले व्यक्ति ने पड़ौसी को मुख्य किया, दूसरे ने डॉक्टर को, तीसरे ने दवा को मुख्य किया और चौथे ने आयुकर्म को मुख्य कर दिया। इसी कथन शैली को तो स्याद्वाद कहते हैं।

अरे भाई! जिसकी होनहार भली हो उसे तो एक के बाद एक अनुकूल निमित्त भी मिलते जाते हैं और उसके परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, रुचि बढ़ती जाती है। निमित्त तो इसके पहले भी कम नहीं मिले और उन्होंने कितना समझाने की कोशिश की, पर कहाँ समझे? जब तत्वज्ञान हो जाता है तो कभी सत्साहित्य को श्रेय देते हैं, कभी अपने मित्र को धन्यवाद देते हैं, कभी अपने भाग्य को सराहते हैं तो कभी अपने गुरुजी की प्रशंसा करते हैं। इसप्रकार कभी किसी को मुख्य करते हैं और कभी किसी को। जब किसी एक को मुख्य करते हैं तो शेष कारण अपने-आप गौण हो जाते हैं।

यही बात णमोकार महामंत्र संबंधी पौराणिक कथाओं के संबंध में भी जानना चाहिए। यहाँ स्वर्गादिक की प्राप्ति में परिणामों की विशुद्धि आदि कारण तो अनेक हैं, पर परमेष्ठी की शरण में पहुँचाने के प्रयोजन से णमोकार मंत्र के सुनने-सुनाने को मुख्य किया गया है और शेष कारणों को गौण कर दिया है। ताकि सभी लोग नरकादि के भय और स्वर्गादि प्राप्ति के प्रलोभन से पंचपरमेष्ठी की शरण में आयें। यहाँ आने के बाद जब वे अरहंतादि का स्वरूप समझेंगे तो उन्हें स्वतः ही सच्चा मोक्षमार्ग मिल जायगा और स्वर्गादि के क्षणिक सांसारिक सुखों से भी विरक्ति हो ही जायगी। □

"शुद्धातम अरु पंचगुरु जग में शरणा दोय।
मोह उदय जिय के वृथा आन कल्पना होय॥

जगत में एक शुद्धात्मा और दूसरे पंच परमेष्ठी ही सच्चे शरण हैं। जीव मोह के उदय में व्यर्थ ही अन्य नाना शरण खोजता फिरता है।"

– पण्डित जयचन्द छावड़ा

अभिमत

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'णमोकार महामंत्र' पुस्तिका आगम सम्मत है। अनेक भ्रान्तियों के निराकरण में भी यह पुस्तिका उपयोगी है। सभी को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

– आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज

- 'णमोकार मंत्र' के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली यह बहुत उपयोगी कृति है। लौकिक कामना एवं जन्त्र-मन्त्र-तन्त्र पर अन्ध श्रद्धा रखने वालों को दिशा बोध देने वाली यह पुस्तिका घर-घर में पहुंचानी चाहिये। **– उपाध्याय मुनि श्री चन्द्रसागरजी महाराज**

- 'णमोकार महामन्त्र' पुस्तक हृदय के पट खोलने वाली है। जैन समाज का बच्चा-बच्चा इसे अवश्य पढ़े। **– मुनि श्री सूर्यसागरजी महाराज**

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने 'णमोकार महामन्त्र' का सांगोपांग वर्णन इस पुस्तिका में किया है। लौकिक बांछा से पंच परमेष्ठी का जाप या पूजन करने तथा अन्य देवी-देवताओं की उपासना करने वालों को कामना रहित जाप व पूजन क्यों करना चाहिए? यह तथ्य भी भली प्रकार प्रतिपादित कर समझाया है। मुखपृष्ठ पर ओंकार में पांचों परमेष्ठियों का चित्रण आकर्षण पैदा करता है। कृति अति उत्तम है।

– ब्र. पण्डित जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

- अनेक भ्रान्त धारणाओं को समाप्त करने की सामर्थ्य रखने वाली यह कृति प्रत्येक जैनी के पढ़ने योग्य है। इसमें दी गई मंगल, उत्तम व शरण की व्याख्या अत्यन्त उपयोगी है। सादी-अनादि की अपेक्षा को तर्क संगत ढंग से समझाया गया है। स्वयं शंकायें उठाकर समाधान प्रस्तुत करने की पद्धति का बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। पुस्तक हर व्यक्ति के हाथ में पहुंचे – ऐसी मेरी भावना है। **– ब्र. यशपाल जैन**, एम.ए., जयपुर

- इस कृति में णमोकार मंत्र पर सभी पहलुओं से पूरे परिश्रम एवं आगम गवेषणा से सर्वांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सचमुच आज के युग में जब णमोकार जैसे लोकोत्तर मंत्र का उपयोग एकदम भौतिक रह गया है, ऐसी कृति की नितान्त आवश्यकता थी। आशा है कि लोकेषणाओं के लिए णमोकार मंत्र के समाज में हो रहे दुरुपयोग को इस कृति से सही दिशा मिलेगी। – **बाबू जुगलकिशोर 'युगल'**, कोटा
- सरल और सुबोध भाषा में लिखी यह पुस्तक अच्छी लगी।
  –**डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य**, सागर
- प्राथमिक अभ्यासियों के लिए पुस्तक उपादेय है।
  \ – **डॉ. दरबारीलाल कोठिया**, बीना
- णमोकार मन्त्र से जुड़ी अनेक भ्रान्त धारणाओं का समुचित समाधान करने वाली एवं णमोकार मन्त्र के उपास्य पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालने वाली यह लघु पुस्तिका घर-घर तक पहुँचाई जानी चाहिए, जिससे जन-जन णमोकार की सच्ची महिमा से परिचित हो सके। मुमुक्षु महानुभावों का तो विशेष दायित्व है कि जैसे भी बने इसे घर-घर पहुंचावें। – **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**
  सम्पादक – वीतराग विज्ञान, जयपुर
- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा रचित 'णमोकार महामन्त्र' पुस्तक पढ़ी। पंच परमेष्ठी पर ऐसी ज्ञानवर्धक पुस्तक प्रकाशित करने के लिए बधाई।
  – **अक्षयकुमार जैन**,
  भू.पू. सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली
- 'णमोकार महामन्त्र' वास्तव में यथार्थ मन्त्र है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल ने संक्षिप्त तथा स्मरणीय विवेचन कर इसे जनोपयोगी बनाया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। – **डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री**, नीमच
- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल कृत 'णमोकार महामन्त्र' पुस्तक अच्छी है। सरल सुबोध शैली में लिखी होने से सर्वजनोपयोगी होगी।
  –**डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन**, लखनऊ

- जिनधर्म में आत्मिक गुणों की वन्दना का विधान है। पंचपरमेष्ठी गुणधाम हैं। इन्हीं गुणों के चिन्तवन हेतु मन्त्र भी गठित हुआ, जिसका आदिम रूप प्राकृत भाषा में विद्यमान है। इसका संक्षिप्त रूप ॐ शब्द में व्याप्त है। विद्वान लेखक ने इन तात्विक बातों का प्रस्तुत ग्रंथिका में सुन्दर विश्लेषण किया है। — **डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**, अलीगढ़

- पुस्तक आद्योपान्त पढ़कर प्रसन्नता हुई, आराध्य की पहचान आराधना के लिए आवश्यक है। जनसाधारण के लिए पुस्तक समयानुकूल है। लेखक ने सरल-सुबोध भाषा में , हित-मित-प्रिय वाणी से पुस्तक को अच्छा रूप दिया है। समाज इसका स्वागत करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।
— **डॉ. कस्तूरचन्द सुमन**, श्रीमहावीरजी

- यह 'णमोकार महामन्त्र' पुस्तक प्रत्येक भव्य मुमुक्षु को आत्मोद्धार के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। लेखक महोदय ने इस पुस्तक की रचना कर दिगम्बर जैन साहित्य की शोभा बढ़ाई है।
— **पण्डित नरेन्द्रकुमार भिसीकर शास्त्री**, सोलापुर

- पुस्तक बहुत सुन्दर है, लेखक ने अच्छा श्रम किया है। एतदर्थ मेरा साधुवाद। — **पण्डित रतनलाल कटारिया**, केकड़ी

- इस लघुकायिक पुस्तिका में णमोकार महामन्त्र की विस्तृत और व्यवस्थित व्याख्या निरूपित है। जैन ही नहीं जैनेतर जिज्ञासुओं को इस महामंत्र के अर्थ, अभिप्राय और माहात्म्य को समझने में प्रस्तुत पुस्तिका निश्चय ही सहायक होगी।

  वस्तुतः काषायिक रोगों से छुटकारा पाने के लिए तथा आध्यात्मिक आंगन में विचरण करने के लिए ९६ पृष्ठीय, आकर्षक आवरण लिए मोहक मुद्रण वाली यह पुस्तिका 'फर्स्ट-एड-बॉक्स' का काम करेगी। विद्वान लेखक का श्रम सार्थक है।
— **डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'**, अलीगढ़

- 'णमोकार मन्त्र' कृति सचमुच 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करती है। प्रख्यात विद्वान लेखक ने पंचपरमेष्ठियों के स्वरूपादि पर तो प्रकाश डाला ही है, 'णमोकार मन्त्र' सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए उपयोगी विवेचन प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण कृति मननीय व संग्रहणीय है। – **डॉ. दोमोदर शास्त्री**, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग लालबहादुर शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-१६
- यह पुस्तक सर्व साधारण को 'णमोकार महामन्त्र' की जानकारी देने हेतु अत्यन्त उपयुक्त है। भारिल्लजी की समझाने की शैली अच्छी है। जो कुछ भी लिखा गया है, आगम के आलोक में लिखा गया है। जिन-पूजन रहस्य के समान यह पुस्तक भी अत्यन्त लोकप्रिय होगी।

  – **डॉ. रमेश जैन**, सम्पादक-पार्श्वज्योति, बिजनौर
- 'णमोकार मंत्र' पर सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करने वाली सरल भाषा में यह एक उपयोगी पुस्तक है। इसमें णमोकार मन्त्र एवं पंच परमेष्ठी के स्वरूप का विस्तार से विवेचन हुआ है। इसके साथ ही मन्त्र का माहात्म्य शब्द शक्ति पाठभेद आदि पहलुओं पर भी विवेचना की गई है। अन्ध श्रद्धा और फैली हुई भ्रान्तियों को दूर करते हुए विषयवस्तु को वास्तविक रूप से समझाने का इस पुस्तक में सुन्दर प्रयास हुआ है। ९६ पृष्ठों की यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

  – **जैन जगत (मासिक) जनवरी १९८८**
- 'णमोकार महामन्त्र' ऐसी कृति है, जिसे आबाल-वृद्ध सभी को मनोयोग पूर्वक पढ़ना चाहिए। पुस्तक में महामन्त्र का माहात्म्य बतलाते हुए 'सर्व पापै: प्रमुच्यते' का सटीक स्पष्टीकरण किया गया है, जो ध्यान देने योग्य है। – **प्रो. उदयचन्द्र जैन**, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी
- पं. रतनचन्दजी भारिल्ल ने 'णमोकार मन्त्र' पर सर्वाङ्ग पूर्ण विवेचन करके एक सराहनीय कार्य किया है। इससे इस मन्त्र से सम्बन्धित भ्रान्तियां दूर होंगी और सम्यक्बोध भी होगा।

  – **सुदर्शनलाल जैन**, रीडर, संस्कृत विभाग बी. एच., वाराणसी

- 'णमोकार महामन्त्र' नामक पुस्तक अपने विषय की शोध-खोज पूर्ण एवं सारगर्भित कृति है। पुस्तक में 'ॐ' एवं 'परमेष्ठी' का स्वरूप समझाकर लेखक ने मुमुक्षुओं के लिए मोक्षमार्ग, तथा साधकों को साधना का सच्चा स्वरूप बताकर आत्महित की ओर प्रवृत होने हेतु प्रेरित किया है। पुस्तक की भाषा भावानुकूल है। –**डॉ. राजेन्द्र बंसल**, अमलाई
- यह कृति प्रत्येक जैन बन्धु द्वारा पठनीय है, इससे णमोकार मन्त्र की प्रभावकता के सम्बन्ध में प्रचलित अंधश्रद्धा दूर होकर सच्ची श्रद्धा पैदा होगी। – **बिरधीलाल सेठी**, जयपुर
- 'णमोकार महामन्त्र' पर ऐसा विशद् विवेचन पहले कभी पढ़ने को नहीं मिला। मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी भ्रान्तियों के निराकरण हेतु लेखक ने पर्याप्त श्रम किया है। यह पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाली यह अनुपम कृति है। – **अखिल बंसल**, सम्पादक, मार्मिकधारा, जयपुर

पूज्यत्व का कारण

अरहंतादि का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है। उस ही के द्वारा अरहंतादिक स्तुति योग्य हुए हैं। क्योंकि जीवतत्व की अपेक्षा तो सर्व ही जीव समान हैं, परंतु रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दा योग्य होते हैं और रागादिक की हीनता और ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होते हैं। सो अरहंत सिद्धों के तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञान भाव संभव है और आचार्य उपाध्याय व साधुओं को एक देश रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से एक देश वीतराग-विज्ञान संभव है। – इसलिए उन अरहंतादिक को स्तुतियोग्य महान जानना।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४

आदा हु मे सरणं : आत्मा ही है शरण

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेठ्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥
– अष्ट पाहुड : मोक्ष पाहुड, आ. कुन्दकुन्द

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण।
सब आतमा की अवस्थायें आतमा ही है शरण॥
– पद्यानुवाद : डॉ. भारिल्ल

मेरे चारों शरण सहाई

जैसे जलधि परत वायस को, वोहित[1] एक उपाई।।
मेरे चारों शरण सहाई॥ १ ॥

प्रथम शरण अरहंत चरण की, सुरनर पूजत पाई।
द्वितीय शरण श्री सिद्धन केरी, लोक तिलकपुर राई॥
मेरे चारों शरण सहाई॥ २ ॥

तीजे शरण सर्व साधुनि की, नगन दिगम्बर काई।[2]
चौथे धर्म अहिंसा रूपी, सुरग–मुकति सुखदाई॥
मेरे चारों शरण सहाई॥ ३ ॥

दुर्गति परत सुजन–परिजन पै, जीव न राख्यो जाई।
भूधर सत्य भरोसो इनको, ये ही लेहि बचाई॥
मेरे चारों शरण सहाई॥ ४ ॥

१. जहाज, २. देह

मन्त्र जपो णमोकार

अरहन्तों का वन्दन करलो, परमातम से परिचय करलो;
पंचप्रभु का सुमरन करलो, परमेष्ठी सुखकार।
भविजन, मंत्र जपो णमोकार ॥ १ ॥

सिद्ध प्रभु का ध्यान लगालो, सिद्ध समान स्वयं को ध्यालो;
सिद्ध समान स्वयं बन जाओ, शिवसुख साधनहार!
भविजन, मंत्र जपो णमोकार ॥ २ ॥

आचार्यों को शीश नवाओ, उनकी महिमा मन में लाओ;
उनके पद चिन्हों को पाओ, मुक्तिमार्ग आधार।
भविजन, मंत्र जपो णमोकार ॥ ३ ॥

उपाध्याय से शिक्षा ले लो, द्वादशांग का सार समझलो;
कोटिग्रन्थ का सार एकलो, समयसार अविकार।
भविजन, मंत्र जपो णमोकार ॥ ४ ॥

सर्वसाधु की चरण-शरण लो, रत्नत्रय आराधन करलो;
निर्ग्रन्थों का पथ अपना लो, जन्म-मरण क्षयकार।
भविजन, मंत्र जपो णमोकार ॥ ५ ॥

णमोकार महामंत्र के पुनः प्रकाशन में दातारों की नामावली

क्र.	दातार का नाम	राशि
१.	पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के साहित्य कीमत कम करने वाले फंड से	५००१.००
२.	श्रीमती नारायणी देवी ध.प. श्री गुलाब चंद जैन, दिल्ली	१००१.००
३.	श्रीमती भंवरीदेवी घीसालालजी छावड़ा, सीकर	५०१.००
४.	श्री राजकुमारजी (राजूभाई), कानपुर	५०१.००
५.	श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी, उज्जैन	३०१.००
६.	श्री शान्तीलालजी सोनाज, अकलूज	२५१.००
७.	श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई	२५१.००
८.	श्री कृष्णराव गोस्वामी, औरंगाबाद	२५१.००
९.	श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोसी, बम्बई	२५१.००
१०.	श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमार जैन, बैंगलोर	२५१.००
११.	श्रीमती नलनी प्रफुल्लभाई दोसी, बम्बई	२५१.००
१२.	श्रीमती पुष्पादेवी ध.प. अजितकुमार जैन (इंजी.), मुरैना	२५१.००
१३.	श्री शान्तिलालजी शेठ वनमावी, बैंगलोर	२५१.००
१४.	श्री प्रो. कृष्णा ए. गोसलिया, न्यू बम्बई	२५१.००
१५.	श्रीमान् निहालचंद जैन, पीतल फैक्ट्री, जयपुर	२५१.००
१६.	श्रीमती मनोरमा जैन पाटनी, जयपुर	२५१.००
१७.	श्रीमती राजकुमारी ध.प. कोमलचंदजी गोधा, जयपुर	२०१.००
१८.	श्रीमती कान्ताबाई ध.प. पं. पूनमचंदजी छाबड़ा	२०१.००
१९.	श्रीमती पानादेवी ध.प. मोहनलाल सेठी, गोहाटी	२०१.००
२०.	श्रीमती इन्द्राणीदेवी ध.प. आनन्दीलाल चूड़ीवाले, रामगढ़	२०१.००
२१.	श्रीमती सुशीलाबाई नन्दकुमार सिंघई, इन्दौर	२०१.००
२२.	श्रीमती गुलाबी देवी ध.प. लक्ष्मीनारायण, शिवसागर	२०१.००
२३.	श्रीमान् हरकचंदजी, महेशनगर, जयपुर	१०१.००
	योग	११३७३.००

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रन्थ	मूल्य
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-१	४०/-
ब्रहद्जिनवाणी संग्रह / मोक्षशास्त्र	२८/-
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-२, ३	२५/-
समयसार	२२/-
प्रवचनसार / अष्टपाहुड / समयसार	२०/-
अनुशीलन भाग-१ सम्पूर्ण आ. अमृतचन्द्र:	,,
व्यक्तित्व और कर्तृत्व	,,
नियमसार / समयसार कलश टीका	१८/-
परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१६/-
सिद्धचक्र विधान / पंचास्तिकाय /	१५/-
समयसार नाटक / धवलसार / मोक्षमार्ग	,,
प्रकाशक / प्रवचनरत्नाकर भाग-२	,,
प्रवचनरत्नाकर भाग-१ / भावदीपिका	१३/-
संस्कार / प्रवचनरत्नाकर भाग-६ /	१२/-
ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव / जिनेन्द्र	,,
अर्चना / इन्द्रध्वज विधान	,,
पं. टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व /	११/-
आत्मा ही है शरण	,,
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार /	१०/-
कालजयी व्यक्तित्व : बनारसीदास /	,,
प्रवचनरत्नाकर भाग-३, ४, ५ व ७	,,
राम कहानी	९/-
सत्य की खोज / पुरुषार्थसिद्ध्युपाय /	८/-
बारसाणुवेक्खा / श्रावकधर्म प्रकाशक	,,
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका	७/-
सर्वोदय तीर्थ / ज्ञानगोष्ठी / परीक्षामुख /	,,
विदाई की वेला / चौबीस तीर्थंकर पूजन	,,
विधान / पंचकल्याणक महोत्सव पूजन /	,,
भक्तामर प्रवचन / वीतराग-विज्ञान	,,
पाठमाला भाग-१, २, ३ का सेट	,,
धर्म के दशलक्षण / बारह भावना	६/-
एक अनुशीलन / जिनवरस्य नयचक्रम् /	,,
आप कुछ भी कहो / बालबोध पाठमाला	,,
भाग-१, २, ३	,,
क्रमबद्ध पर्याय / गागर में सागर /	५/-
आ. कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम /	,,

ग्रन्थ	मूल्य
कारणशुद्धपर्याय / छहढाला सचित्र /	५/-
बनारसी विलास / णमोकार महामंत्र /	,,
अर्द्धकथानक / अध्यात्म संदेश /	,,
वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-३, ४	,,
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ एवं २	,,
सुखी होने का उपाय भाग-१, २ एवं ३/	४/-
वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-२/	,,
मनीषियों की दृष्टि में समयसार /	,,
शान्तिविधान / रत्नत्रय पूजन-विधान /	,,
भक्ति सरोवर / जैन बालपोथी भाग-१ /	,,
गुणस्थान प्रवेशिका / जैन बालपोथी	,,
भाग-२ / सत्तास्वरूप/पदार्थ विज्ञान /	,,
सामान्य श्रावकाचार / जिनपूजन रहस्य	,,
पंचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव / वीतराग	३/-
विज्ञान प्रवचन-१ चौंसठ ऋद्धि विधान /	,,
पंचपरमेष्ठी पूजन विधान /	,,
वीर हिमाचल ते निकसी	,,
अहिंसा महावीर की दृष्टि में /	२/५०
निमित्तोपादान / चिद्विलास	,,
मैं कौन हूँ / लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका /	२/-
चैतन्य चमत्कार / भरत बाहुबली नाटक /	,,
शान्तिसुधा / मुक्ति का मार्ग /	,,
आत्मसम्बोधन / जिनधर्म प्रवेशिका /	,,
जैनमुहूर्त्त विधि	,,
सार समयसार /	१/५०
शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	,,
कुन्दकुन्द शतक / समयसार पद्यानुवाद	१/२५
णमोलोए सव्वसाहूणं / बारहभावना एवं	१/-
जिनेन्द्र वन्दना / शुद्धात्म शतक / तीर्थंकर	,,
भगवान महावीर / अनेकान्त और	,,
स्यादवाद् / शाकाहार : जैनदर्शन के	,,
परिप्रेक्ष्य में / जैन झण्डा गायन	,,
अर्चना (जेबी साइज) /	/७५
गोम्मटेश्वर बाहुबली	,,
योगसार पद्यानुवाद / उपासना	/५०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	/२५

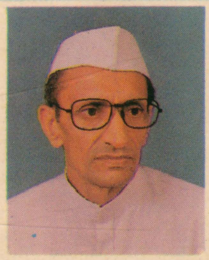

अगहन कृष्णा अष्टमी दिनांक 21 नवम्बर 1932 ई. को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम में जन्मे पण्डित रतनचन्द भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम.ए., बी.एड. हैं।

णमोकार महामंत्र, जिनपूजन रहस्य, विदाई की बेला, संस्कार (कथानक), सामान्य श्रावकाचार, बनारसीदास : जीवन और साहित्य तथा बालबोध पाठमाला भाग-1 आपकी मौलिक कृतियाँ हैं जो अनेक संस्करणों में एवं गुजराती, मराठी, कन्नड तथा तमिल भाषाओं में भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी के समयसारादि ग्रन्थों पर हुए प्रवचनों का ढाई हजार से भी अधिक पृष्ठों में आपके द्वारा किया गया गुजराती से हिन्दी अनुवाद प्रवचन रत्नाकर भाग 1 से 7 तक तथा भक्तामर प्रवचन के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

गागर में सागर, पदार्थविज्ञान, अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह) एवं अहिंसा: महावीर की दृष्टि में आपके द्वारा सम्पादित कृतियाँ हैं।

आपने बृहज्जिनवाणी संग्रह, समयसार नाटक, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, भक्तामर प्रवचन, गागर में सागर तथा आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार ग्रन्थों की शोध खोज पूर्ण प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं।

आप 1977 से जैनपथ प्रदर्शक के यशस्वी सम्पादक एवं 1979 से श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। आप प्रशिक्षण शिविरों के वरिष्ठ अध्यापक एवं प्रौढ़ प्रवचनकार भी हैं।